साधना

साधना

रवीन्द्रनाथ ठाकुर

राजपाल एण्ड सन्ज
नई सड़क : दिल्ली

अनुवादक

सत्यकाम विद्यालङ्कार

मूल्य दो रुपया

मुद्रक— राजहंस प्रेस, दिल्ली

भारतीय संस्कृति के उपासकों को—

अनुक्रमणिका

१ : व्यक्ति का विश्व से सम्बन्ध

प्राचीन यूनान की सभ्यता का विकास नगर-दीवारों की किलेबन्दियों में हुआ था। सम्पूर्ण आधुनिक सत्यता ने ही ईंट और पत्थरों के पालने में जन्म लिया है और इसी जड़ वातावरण में विकास पाया है।

मनुष्यों के मन पर इन दीवारों की गहरी छाप पड़ गई है। हमारी विचार-धारा पर इस व्यूह नीति का प्रभाव बड़ा गहरा अंकित हो गया है। यह प्रभाव हमें अपने विजित आदर्शों को भी संकीर्ण दीवारों में बन्द रखने की प्रेरणा करता है और एक दूसरे में पृथकत्व की सीमाओं को दृढ़ रखने की प्रवृत्ति को उत्साहित करता है। हम एक राष्ट्र से दूसरे राष्ट्र को, एक ज्ञान से दूसरे ज्ञान को और मनुष्य से प्रकृति को भिन्न देखने के अभ्यासी हो जाते हैं। यह प्रवृत्ति हमें स्वनिर्मित प्राचीरों के बाहिर की प्रत्येक वस्तु को संदिग्ध दृष्टि से देखने को भी विवश कर देती है और हमारे चारों ओर ऐसी दुर्भेद्य दीवार बना देती है जिसे खण्डित करके हमारे अन्तः करण तक प्रवेश करने के लिये हर सचाई को भी विकट युद्ध करना पड़ता है।

आर्य प्रवासी जब पहले पहल इस देश में आये तो यह भूमि विस्तीर्ण वन-उपवनों की भूमि थी। प्रवासियों ने इन वनों को निवास-योग्य बनाने में अधिक कठिनाई अनुभव नहीं की। निविड़ वनों के

हरित-पल्लवित वृक्षों ने उन्हें सूर्य की प्रचण्ड गर्मी में शरण दी और तूफ़ानी आंधियों से रक्षा करके अपने आंचल में आश्रय दिया। उनके पशुओं को चरागाह मिले; यज्ञ की अग्नि को प्रदीप्त करने के लिये उन्हें यथेष्ट समिधायें मिलीं; और कुटीर बनाने के लिये योग्य लकड़ियें व अन्य सामान भी उन्हीं घने वनों से प्राप्त हुए। इन सुविधाओं के सहारे आर्यों ने इस देश के उन भिन्न-भिन्न विस्तीर्ण अरण्य-खंडों में अपने ग्राम-जनपद बना लिये जहां अन्न और पानी की प्राप्ति थोड़े ही श्रम से हो सकती थी।

इस तरह हमारे देश की सभ्यता का उद्भव देश के जंगलों में हुआ और विशेष वातावरण में जन्म व विकास पाने के कारण हमारी सभ्यता की रूपरेखा में भी विशेषतः आगई। प्रकृति के विस्तीर्ण जीवन से ही इसे जीवन मिला और प्रकृति के परिधानों से ही इसका देह सज्जित हुआ। प्रकृति ही इसकी माता बनी और उसी के निरन्तर सम्पर्क से इसका पालन पोषण हुआ।

कहा जा सकता है कि इस तरह का वन्य जीवन मनुष्य की विचार-शक्ति को कुंठित बना सकता है और जीवन के धरातल को नीचा करके मन की उदयोन्मुख प्रवृत्तियों को नष्ट कर सकता है। किन्तु, हमारे देश का इतिहास साक्षी है कि तत्कालीन वन्य जीवन ने मनुष्य की मनःशक्ति को मन्द नहीं बनाया बल्कि उसे एक विशेष दिशामें प्रेरित किया। प्रकृति के सजीव विकास के निरन्तर साहचर्य ने उसे यह सिखा दिया कि अपने स्वत्वों पर एक भयभीत कृपण की तरह किलेबन्दी करने की कोई आवश्यकता नहीं है और जुदा-जुदा बांटकर उन्हें सुरक्षित करने के निमित्त प्राचीरों का निर्माण भी व्यर्थ है। प्रकृति ने यह भी सिखाया कि मनुष्य का ध्येय स्वत्व की वृद्धि करना नहीं है; बल्कि स्वानुभव और समीपस्थ चेतन-अचेतन वस्तुओं के साथ

विकसित और विस्तीर्ण होना है। तभी मनुष्य को यह ज्ञान हुआ कि सत्य की सीमा में सम्पूर्ण विश्व का समावेश है, और किसी भी वस्तु का अस्तित्व अन्य सब से पृथक् नहीं रह सकता; और सत्य की प्राप्ति का सच्चा रास्ता सम्पूर्ण विश्व की विभूतियों में स्वात्म-अनुभूति करना ही है। अपनी आत्मा और विश्वात्मा में तत्कालीन विद्यमान इस समता का अनुभव करना ही हमारे वनवासी तत्वदर्शियों का ध्येय था। अपनी साधना से वे इस ध्येय को पूर्णतया प्राप्त कर चुके थे।

कुछ काल बाद वही वन हरे भरे खेतों में परिवर्त्तित होगये, और वहां भव्य नगरों की स्थापना होगई। वहीं ऐसे शक्तिशाली साम्राज्य भी बने जिनकी छत्रछाया संसार की अन्य दूरस्थ महाशक्तियों ने भी स्वीकार की। किन्तु राज्यशक्ति के इस मध्याह्न काल में भी भारत की आत्मा उन्हीं आदर्शों से प्रभावित होती रही जिनका विकास आत्मज्ञान की साधना में रत ऋषि-मुनियों ने अपने प्रवास के प्रथमकाल में निर्जन वनों में किया था। राजप्रासादों में रहने वाले सम्राट् भी उन वन्य-कुटीरों के निवासी तपस्वियों और तपोमय जीवन के सिद्धांतों को श्रद्धा की दृष्टि से देखते रहे और उन्हीं को आप्त मान कर अपनी विचार सरणी का निश्चय करते रहे।

पश्चिम के लोगों को प्रकृति पर विजय पाने का अहंकार है; मानो वे ऐसे शत्रुता भरे भूमि-आकाश से आक्रान्त हैं, जहां उन्हें जीवन के हर श्वास के लिये संघर्ष करना पड़ता है और प्रकृति को परास्त करके बलपूर्वक जीवनोपयोगी उपादेयों का संग्रह करना पड़ता है। पश्चिम की यह मनोभावना उनकी शहरी-दीवारों में विकसित सभ्यता की देन है। शहरी जीवन में मनुष्य को प्रकृति के वरदान प्राप्त नहीं होते। विश्वात्मा से उसका तारतम्य टूट जाता है। अपने मन

की संकीर्ण सीमाओं में ही वह जीवन की उस ज्योति की तलाश करता है जो उसके पथ को आलोकित कर सके। इसीलिये उसका सम्पूर्ण जीवन अस्वाभाविक संघर्षों से अभिशप्त रहता है।

भारत की विचारधारा इससे भिन्न है। उसके अनुसार प्रकृति और मनुष्य एक ही व्यापक सत्य के अंग हैं। इन दोनों जीव और प्रकृति में एकत्व की भावना स्थापित करना ही भारतीय दर्शनों का ध्येय रहा है। भारत के विचारकों का मन्तव्य है कि यदि हमारी बाह्य परिस्थितियां हम से सर्वथा विजातीय हों तो उनसे हमारा साहचर्य सम्भव ही नहीं है। प्रकृति से मनुष्य को यही शिकायत है कि वह उसकी आवश्यकताओं की पूर्त्ति स्वयं नहीं करती, उन्हें सिद्ध करने के लिये उसे स्वयं प्रयत्न करना पड़ता है। ठीक है, किन्तु उसके प्रयत्न कभी व्यर्थ नहीं जाते; प्रतिक्षण उसे सफलता मिलती है। इसी से प्रगट है कि उसमें और प्रकृति में सहज सौहार्द्य है; क्योंकि किसी भी ऐसी वस्तु को हम अपनी नहीं बना सकते जिससे हमारा प्रकृतिसिद्ध सहभाव न हो।

एक ही रास्ते को हम दो दृष्टियों से देख सकते हैं। एक यह कि वह हमारे अभीष्ट को हम से दूरस्थ किये हुए है; इस अवस्था में हम अपनी यात्रा के हर कदम को रास्ते की दूरी पर बलपूर्वक प्राप्त विजय का नाम देंगे और अपनी विजय व रास्ते की पराजय पर हर्षित होंगे। दूसरा दृष्टिकोण यह है कि हम रास्ते को अपने ध्येय तक पहुंचने का साधन समझें; तब वह साधन भी हमारे ध्येय का ही अंश बन जायगा। तब हमारी यात्रा का हर क़दम ध्येय की सिद्धि का रूप लेता जायगा और हमारे जीवन का प्रत्येक क्षण उसी आनन्द से विभोर हो जायगा जो ध्येय की प्राप्ति से होता है। प्रकृति को हमारे भारतीय ऋषि इसी प्रकार का साधन मानते आये हैं।

हमारे विचारकों का यह विश्वास है कि मनुष्य और प्रकृति में सहज समता है। यही समता है जो मनुष्य की विचार-शक्ति का स्रोत है; और इसी कारण वह प्रकृति की शक्तियों का उपयोग करने में समर्थ होता है। उसके ध्येय और प्रकृति के ध्येय में कोई विषमता या विरोध नहीं है, दोनों में ऐसा समवायि साहचर्य है जो निरन्तर रहता है और रहेगा।

पश्चिम की यह धारणा है कि प्रकृति का साहचर्य केवल जड़ वस्तुओं या वन्य पशुओं से है, मनुष्य-प्रकृति उस श्रृंखला से बिल्कुल भिन्न है। पश्चिम के विश्वास के अनुसार चराचर जगत् की निम्न स्तर की वस्तुओं का सम्बन्ध प्रकृति से है और बौद्धिक तथा विवेकसिद्ध वस्तुओं व कार्यों का श्रेय केवल मनुष्य-प्रकृति को है। यह धारणा उसी तरह भ्रम-मूलक है जैसे पुष्प-कलिका को पुष्प से भिन्न समझने की भ्रांति और उन दोनों के सुवास सौन्दर्य के लिये जुदा जुदा श्रेय विभाजित करने की प्रवृत्ति। भारतीय आत्मा को कभी ऐसी भ्रान्ति नहीं हुई। वह सदा प्रकृति से अपना समत्व बनाये रही है। भारतीय विचारक सब वस्तुओं में आत्मत्व और आत्मा में सब का समत्व मानते आये हैं।

विश्व भर में समत्व की भावना रखना भारत के लिये केवल काल्पनिक आदर्श नहीं रहा बल्कि इस समत्व को अपने विचारों व क्रियात्मिक जीवन में प्रयोग में लाना भारतीय आदर्श रहा है। सतत अभ्यास, संयत जीवन और परमार्थ भावना की निरन्तर साधना द्वारा भारत ने अपनी आत्मा में ऐसी अनुभूति जाग्रत कर दी कि उसे सम्पूर्ण विश्व में एक अध्यात्मिक स्पन्दन अनुभव होता था। पृथ्वी, पानी, आकाश, प्रकाश से लेकर पत्र-पुष्प तक सभी वस्तुओं का प्रयोजन उसके लिये केवल प्रयोग में लाकर बाद में त्याग देने

का नहीं था। पूर्णता की शोध में ये सब साधन उसके लिये अनिवार्य उपकरण बन गये थे; जिस तरह किसी राग को संपूर्ण करने के लिये भिन्न-भिन्न स्वर सहकारी बन जाते हैं। भारत की अन्तरात्मा में यह बोध स्वयं जाग्रत हो चुका था कि संसार के सभी तत्वों का मनुष्य-जीवन को पूर्ण बनाने में एकान्तिक प्रयोजन है; हमें इस सत्य के प्रति कभी उदासीन नहीं होना चाहिए; बल्कि इस सम्बन्धको सजीव बनाने में प्रयत्नशील रहना चाहिए; केवल वैज्ञानिक जिज्ञासा को शान्त करने या पार्थिव प्रयोजन की सिद्धि के लिए नहीं, अपितु विश्व की विराट् आत्मा के संग शांति और आनन्द की सह-अनुभूति प्राप्त करने के लिये।

वैज्ञानिक जानता है कि विश्व की विभूतियों का वही स्वरूप नहीं है जो इंद्रियों द्वारा अवगत होता है। उसे मालूम है कि पृथ्वी और जल वस्तुतः कुछ अदृश्य शक्तियों का मेल है जो पृथ्वी और जल के रूप में प्रकट होती हैं। वैज्ञानिक की तरह अध्यात्म दृष्टि से संसार के तत्वों को देखने वाला व्यक्ति भी यह अनुभव कर लेता है कि पृथ्वी और जल के रूप में वही महाशक्ति कार्य कर रही है जो अन्य समयों और पदार्थों में अन्य रूपों में प्रकट होती है। यह ज्ञान हमें उन शक्तियों पर विजय प्राप्त करने की प्रेरणा नहीं देता अथवा हमारे मन में उन्हें स्वत्वाधीन करने का अहंकार भी नहीं भरता बल्कि एक आनन्द देता है जो दो समानशील वस्तुओं के आत्मसात् होने से ही प्राप्त होता है। जिस व्यक्ति का संसारी ज्ञान केवल वैज्ञानिक प्रयोगों तक सीमित है वह प्राकृतिक लीलाओं को अध्यात्म दृष्टि से देखने वालों की अनुभूतियों से सर्वथा अनभिज्ञ रहता है। आत्म-दर्शियों के लिए प्राकृतिक विभूतियों का प्रयोजन केवल मनुष्य के उपयोग में आना नहीं होता। उनकी दृष्टि में जल का प्रयोजन

केवल शरीर-शुद्धि नहीं होता, जल उसके हृदय को भी निर्मल बनाता है; क्योंकि वह जल उसको आत्मा को भी स्पर्श करता है। पृथ्वी का प्रयोजन केवल उसके देह को स्थिति देना नहीं है, वह उसके मन को भी आह्लाद देती है; क्योंकि उसका स्पर्श केवल भौतिक नहीं है वह सचेतन संस्पर्श है। जब मनुष्य प्रकृति से ऐसा सचेतन सौहार्द्र अनुभव नहीं करता तो संसार उसके लिए ऐसा भयानक कारागार बन जाता है जिसकी एक एक ईंट उसका शत्रु होती है। और इसके विपरीत जब वह सब वस्तुओं में आत्मभाव देखता है तो उसका सच्चा आत्म-विकास होता है; क्योंकि तभी वह सृष्टि का सच्चा अर्थ जान पाता है जिसमें उसने जन्म लिया; तभी उसे अपने अस्तित्व की सत्यता का ज्ञान होता है और अपनी परिस्थितियों से उसका निरन्तर समभाव बन जाता है। भारत की संस्कृति मनुष्य को सब से पहला पाठ यही पढ़ाती है कि उसका अपनी परिधि में विद्यमान प्रत्येक चेतन-अचेतन वस्तु से आत्मिक साहचर्य है, और उसे उदय होते हुए सूर्य का, बहते हुए जल का व पुष्पित पृथ्वी का इस भावना से आराधन करना है कि ये सब उसी विराट् जीवित सत्य के भिन्न रूप हैं, जिसने इन सबको अपने आंचल में समेट रखा है। हमारा गायत्री मंत्र, जो सब वेदों का निष्कर्ष कहा जाता है, हमें इसी भावना को जाग्रत करने की प्रेरणा देता है। इसी की सहायता से हम मनुष्य की चेतन आत्मा से विश्व की एकात्मता को अनुभव करने का यत्न करते हैं; हम उस एकत्व को जानने का प्रयत्न करते हैं जिसे महान-शक्ति ने एक सूत्र में बांधा हुआ है। वही शक्ति है जो पृथ्वी, आकाश का निर्माण करती है और हमारी आत्मा में वह ज्योति प्रदीप्त करती है जो प्रकृति की इन विभूतियों के साहचर्य में सदा प्रज्वलित रहे।

यह आरोप सच नहीं है कि भारत ने भिन्न २ वस्तुओं का जुदा-

जुदा मूल्य लगाने में उदासीनता या अनभिज्ञता प्रकट की है। भिन्नता को स्वीकार किये बिना जीवन निभाना असंभव हो जाता है। यह सत्य भी भारत के तत्वदर्शियों से परोक्ष नहीं रहा कि प्रकृति की विभूतियों में मनुष्य का स्थान श्रेष्ठतम है। किन्तु श्रेष्ठता का मानदण्ड अवश्य दूसरा है। उसकी परख यह नहीं है कि मनुष्य अधिकाधिक सम्पत्ति का संग्रह कर सकता है बल्कि यह है कि वह सब शक्तियों में एकसूत्रता स्थापित करने की बुद्धि रखता है। इसीलिये भारत ने अपने तीर्थस्थानों का चुनाव ऐसे ही स्थलों पर किया जहां प्रकृति का सौन्दर्य विशेष दिव्यता के साथ प्रकट हुआ; जिससे मनुष्य का मन संकीर्ण आवश्यकताओं से घिरे संसार को भूलकर विस्तीर्ण प्रकृति में अपने महत्व का अनुभव कर सके।

भारत को यह ज्ञान हो गया कि जब हम प्रकृति और अपने बीच एक भौतिक व मानसिक दीवार बना कर स्वयं को प्रकृति से जुदा कर लेते हैं; जब हम निरे मनुष्य; विश्व की विभूतियों से सर्वथा अलग रह जाते हैं, तभी हमारी समस्यायें जन्म लेती हैं और उनके सच्चे समाधान का मार्ग बन्द होने के कारण हम मिथ्या उपचारों का आश्रय लेते हैं; जो उपचार समस्याओं को सरल न बना कर जटिल बना देते हैं कि जिनका कभी समाधान नहीं हो पाता। जब मनुष्य अपनी प्रकृति माता के आँचल का त्याग कर केवल मनुष्यता के आकाश में अकेली बंधी रस्सी पर चलना शुरू करता है तो वह अपना सन्तुलन स्थिर रखने के लिये या तो उसपर नृत्य करता है या गिर पड़ता है। सन्तुलन की विषम कठिनाइयों से सन्तप्त होकर उसका मन विधाता को कोसने लगता है और उसे इस मिथ्या अहंकार में झूठा सन्तोष अनुभव करके ही शान्ति मिलती है कि वह सम्पूर्ण विश्व से अकेला लड़ रहा है; सारी

दुनिया उसे मिटाने की कोशिश कर रही है। वह अपने ही प्रयत्न से यथा-कथंचित् जीवित है। इस आत्मवंचना में ही वह परितोष अनुभव करने लगता है।

यह विडम्बना देर तक मनुष्य का साथ नहीं देती। मनुष्य को अपने अस्तित्व की व्यापक समता का ज्ञान होना आवश्यक है; उसे यह सत्य ज्ञान होना चाहिए कि भगीरथ प्रयत्न करने के बाद भी वह अपने ही मधुकोष से मधु का संचय नहीं कर सकता। जीवन के अस्तित्व को स्थिर रखने के लिये आवश्यक मधु की प्राप्ति उसे अपने से बाहिर, वन-उपवनों के रसभरे पुष्पों से करनी होगी। उसे इस बात का भी ज्ञान होना चाहिये कि जब मनुष्य स्वयं को प्रकृति के प्राणप्रद और वरद स्पर्श से दूर कर लेता है और जीवन व आरोग्य के लिये अपने आविष्कारों का अवलम्ब लेता है तो वह उन्मादी हो जाता है; स्वयं को खण्ड खण्ड कर लेता है और अपने ही जीवन-रस का शोषण करता है। प्रकृति के विशाल आंचल का अवलम्ब छोड़कर उसकी दीनता नग्न और निर्लज्ज बन जाती है। प्रकृति के आवरण में वह सादगी का रूप धारण किये रहती है। तब उसकी सम्पत्ति वैभवहीन होकर बिखर जाती है। उसकी भूख-तृषा आदि इच्छायें भी अपने प्रयोजन की सीमा में नहीं रहती। वे स्वयं ध्येय बनकर उसके जीवन में एक आग सी लगा देती हैं, जिसकी लपटों के चमकते प्रकाश में वे राक्षसी तृप्ति का आनन्द लेती हैं। यही वह मनोवस्था है जिसके आधीन हम प्रत्येक कार्य को विपरीत भावना से करते हैं। हमारी रचनाओं में कोमल सरसता न होकर चकाचौंध करने की तीव्रता आजाती है; कला में हम नयापन भरने की कोशिश में ऐसे चिरन्तन सत्य को भुला देते हैं जो पुराना होते हुए भी सदा नवीन रहता है। साहित्य

में भी हम मनुष्य के उस व्यापक रूप को अगोचर कर देते हैं जिसका बाह्य रूप बहुत साधारण किन्तु जिसका अन्तर बहुत विशाल है। तभी मनुष्य एक मनोवैज्ञानिक उलझन बन जाता है। या वह केवल कुछ ऐसे मानसिक आवेशों का पुतला दीखता है, जो असाधारण और बहुत तीव्र हों। असाधारण इसलिए कि उन आवेशों को अस्वाभाविक रूप से दहकते प्रकाश से चमका कर प्रस्तुत किया जाता है। जब मनुष्य की चेतनता को केवल अपने स्वत्व की छोटी सी परिधि के घेरे में बांध दिया जाता है तो उसकी आत्मा के मूलतत्वों को विकास के लिये स्थिर आधार नहीं मिलता—ठीक उस तरह, जिस तरह भूमि की उथली सतह पर फैलने वाली जड़ें जमीन की गहराई में बहने वाले जल से वंचित रह जाती है। इसी कारण मनुष्य की आत्मा पोषक तत्वों को न पाकर भूखी रहती है। इस भूख की शान्ति का सच्चा उपाय न करके मनुष्य क्षणिक उत्तेजक तत्वों का सेवन करने में प्रवृत्त हो जाता है। तभी मनुष्य अन्तर्दृष्टि को खोकर अपने महत्त्व का माप पार्थिक प्रचुरता से करने लगता है, अपने कार्यों की परीक्षा, गति और वेग की कसौटी पर करने लग जाता है, न कि कार्य में पूर्णता प्राप्ति के उपरान्त मिलने वाली विश्रान्ति से; और उस विश्रान्ति से जो सृष्टि के सदा सम-प्रवाही नृत्य में या तारकमय आकाश में विद्यमान है।

भारत में प्रथम प्रवासियों का आगमन अमेरिका के युरोपियन प्रवासियों के तुल्य ही हुआ था। उन्हें भी घने जंगलों और आदि-वासियों से संघर्ष करना पड़ा था। मनुष्य और मनुष्य अथवा मनुष्य और प्रकृति के बीच का यह संघर्ष अन्त तक होता रहा; उनमें कभी सामंजस्य स्थापित नहीं हुआ। भारत में थोड़े से संघर्ष

के बाद ही हिंस्र जातियों से व्याप्त जंगल ऋषि मुनियों के आश्रम बन गये। अमेरिका में प्रकृति के इन जीवित देवस्थानों का प्रभाव मनुष्य के जीवन में विशेष रूप से अंकित नहीं हुआ। धन और सम्पदा की वृद्धि में ये सहायक अवश्य बने और कदाचित् उनके सौंदर्य उपभोग के भी प्रेरक बने हों, शायद किसी कवि के कवित्व को जागृत करने में भी उनका उपयोग हुआ हो; किन्तु इनका मनुष्य के हृदय में वह पवित्र स्थान नहीं बना, जिससे ये वन आध्यात्मिक शान्ति प्राप्त करने का तीर्थस्थान बन जाते; ऐसा तीर्थ जहां मनुष्य की आत्मा का विश्वात्मा से मिलन होता है।

एक क्षण के लिये भी मैं यह विचार प्रस्तुत नहीं करना चाहता कि जो कुछ हुआ वह अनुचित था! इतिहास हर स्थान में हर समय अपने को एक ही रूप में नहीं दोहराता। इस पुनरावृत्ति में मौलिकता नष्ट होने का भय है। भिन्न परिस्थितियों में स्थित मानव, मानवता की हाट में अपनी अपनी विशेष रचनाओं के साथ आयें—तभी मानवता की श्री-वृद्धि होगी। विभिन्न रचनायें एक दूसरे की विरोधी नहीं बल्कि पूरक हैं। मेरे कथन का अभिप्राय इतना ही है कि भारत को अपने प्रारम्भिक काल में जो विशिष्ट परिस्थितियां प्राप्त हुईं उनका उसने पूरा उपयोग किया। अपनी परिस्थितियों और उपलब्ध अवसरों पर उसने गहरा मनन-अनुशीलन किया, प्रयत्न किया, कष्ट उठाया, अपने अस्तित्व को मापने के लिये गहरा गोता लगाया और तब उसने जो पाया वह उस मानव समाज के लिये भी सर्वथा अनुपयोगी नहीं है जिसका विकास सर्वथा भिन्न परिस्थितियों के इतिहास में हुआ। अपने पूर्ण विकास के लिए मनुष्य को उन सब विविधतत्वों की आवश्यकता होती है जिनके सामंजस्य से उसका विषम जीवन बना होता है। तभी उसका भोजन जुदा जुदा खेतों के भांति के भांति अन्न,

फल, फूलों को बटोर कर बनाया जाता है।

सभ्यता एक प्रकार का सांचा है, जो प्रत्येक जाति अपने सर्व-श्रेष्ठ आदर्श के अनुसार निर्माण करती है; जिसमें उसके सभी स्त्री व पुरुषों के जीवन की रूपरेखा तैयार होती है। उस जाति की सभी सामाजिक संस्थायें, नियामक सभायें, भले-बुरे की परीक्षक कसौटियां और उसकी प्रत्यक्ष-परोक्ष शिक्षायें उसी आदर्श को ज्योतिस्तम्भ मानकर संचालित होती हैं। पश्चिम की आधुनिक सभ्यता सब संगठित प्रयत्नों द्वारा मनुष्य को शारीरिक, बौद्धिक व नैतिक उत्कृष्टता में पूर्ण बनाने का प्रयास कर रही है। राष्ट्रों की विस्तीर्ण-शक्तियां मनुष्य को परिस्थितियों पर विजय पाने के लिये समर्थ बना रही हैं। उनके सब उद्योग प्रकृति से युद्ध करने और पड़ोसी देशों को पराजित करने में लग रहे हैं; उनके उपकरण, उनके यन्त्र और उनके संगठन इसी लक्ष्य को सम्मुख रखकर प्रतिदिन व्यापक हो रहे हैं। उनका संग्रह आश्चर्यजनक वेग से बढ़ता जा रहा है। यह निःसन्देह चमत्कारी सफलता है और मनुष्य की संघ-शक्ति का आश्चर्यकारक प्रदर्शन है। प्रकृति पर मनुष्य का प्रभुत्त्व स्थापित करने, और मार्ग की सब बाधाओं को दूर करने की क्षमता दिखलाकर पश्चिमी सभ्यता ने अपने लक्ष्य को बहुत अंशों में पा लिया है।

प्राचीन भारतीय सभ्यता का आदर्श इससे भिन्न था। उसी की पूर्ति के अर्थ भारत ने साधना की थी। उसका लक्ष्य शक्ति प्राप्त करना नहीं था। अपनी सम्पदा और अपनी जन-शक्ति को सुरक्षा व आक्रमण के लिये तैयार करने की ओर से भारत उदासीन था। सम्पत्ति के संग्रह के लिये संगठित उद्योग भी उसने नहीं किये और राजनीतिक प्रभुत्त्व या सैनिक प्रमुखता पाने की महत्त्वाकांक्षा ने भी भारतीय मन को कभी चँचल नहीं बनाया। भारत का आदर्श इससे

भिन्न था। उस आदर्श की साधना में भारत के प्रतिभासम्पन्न मस्तिष्क निर्जन एकान्त में चले गये थे। वहां, प्रकृति के रहस्यों का अनुसन्धान करके जो अमूल्य निधि मानव-कल्याण के लिये उन्होंने प्राप्त की थी वह सांसारिक अभ्युदय की आकांक्षाओं का बलिदान देकर पाई थी। संसारी लाभ की दृष्टि में उन्हें अपने आदर्शों का भारी मूल्य चुकाना पड़ा। किन्तु भारत को उस त्याग का गर्व है। उस अध्यात्मिक उपलब्धि में मानव की ऐसी भावनाओं का परितोष मिलता है--जिसका कोई अन्त नहीं।

भारत में पुण्यात्मा, विवेकी और साहसी सभी तरह के व्यक्ति रहे; राजनीतिज्ञ, महाराजा और सम्राट् भी रहे; किन्तु प्रश्न यह है कि भारत ने इन सब वर्गों में से किस एक वर्ग को भारतीयता के प्रतिनिधि होने का सन्मान दिया? ऋषियों को। ऋषि कौन थे? 'वे ज्ञानी जिन्हें ज्ञान द्वारा आत्मा की अनुभूति हुई थी और इस प्रकार वे तत्त्वदर्शी बन गये थे; आत्मा में उसकी समभावना जानकर अपने अन्तस्थ 'स्व' से जिन्होंने पूर्ण समता स्थिर कर ली थी?'[1] हृदय में ही उसकी स्थिति का अनुभव करके वे सब बाह्य कामनाओं से विरत हो गये थे और संसार की सब गतिविधियों में उसको ही देखकर जिन्हें पूर्ण प्रशान्ति प्राप्त हो चुकी थी। ऋषि वे थे जो ब्रह्मज्ञान पाकर स्थिर शान्ति पा चुके थे, जिनका मन विश्वात्मा से युक्त होकर विश्व के हृदय में प्रवेश पा चुका था।

इस तरह विश्वात्मा से अपने सम्बन्ध का ज्ञान पाना और परमात्मा में एकत्व अनुभव करके सर्वभूतों में एकात्मता प्राप्त करना

---

१. संप्राप्येनं ऋषयो ज्ञानतृप्ताः, कृतात्मनो वीतरागाः प्रशान्ताः, ते सर्वगं सर्वतः प्राप्य धीराः युक्तमनाः सर्वमेवाविशन्तिः।

ही भारतीय सभ्यता का परम ध्येय था।

मनुष्य अपने कर्मों तक सीमित नहीं। वह उनसे बड़ा है। उसके प्रवृत्ति-निवृत्ति, निर्माण-विनाश सम्बन्धी सब काम उसमें व्याप्त होने के कारण मनुष्य के व्यक्तित्व से छोटे हैं। जब मनुष्य अपनी आत्मा को क्षुद्र संस्कारों के आवरण में कैद कर लेता है या संसारी कामों की आंधियां उसकी दृष्टि को धुन्धला बना देती हैं तो उसकी व्यापक आत्मा अपनी स्वतन्त्र महानता को खो बैठती है। मनुष्य की आत्मा स्वतन्त्र है; वह न तो अपनी ही गुलाम बनती है न संसार की किसी वस्तु की। किन्तु वह प्रेमी है। प्रेम उसका आवश्यक तत्त्व है। उसकी पूर्णता प्रेम में ही है। पूर्ण मिलन भी उसी का दूसरा नाम है। मिलन या विलय की इस प्रक्रिया के अन्त में ही उसकी आत्मा विश्व की आत्मा में विलीन हो जाती है, यही उसकी आत्मा का जीवन है। जब मनुष्य दूसरों को गिराकर उठने की कोशिश करता है और उत्थान का अहंकार अनुभव करने के लिए पार्श्ववर्ती परि-स्थितियों का शत्रु बन जाता है तब वह अपनी प्रकृति से विपरीत आचरण करता है। इसीलिये उपनिषदों में मनुष्य-जीवन की चरम सिद्धि को प्राप्त किये हुए व्यक्तियों के लिये 'प्रशान्ताः' और 'युक्तमनाः' शब्दों का प्रयोग किया है।

ईसा मसीह के इन शब्दों में भी इसी सत्य की छाया है कि "सूई के छिद्र में से प्रवेश कर ऊँट भले ही गुज़र जाय किन्तु स्वर्ग के राज्य में धनी का प्रवेश असंभव है।" इस वाक्य से अभिप्रेत यह है कि जो सम्पत्ति हम अपने लिये संचित करते हैं वह हमें दूसरों से पृथक् करने में सहायक हो जाती है; हमारी सम्पत्ति ही हमारी सीमा बन जाती है। धन-संचय में व्यस्त व्यक्ति का अहंभाव उसे समभाव पूर्ण अध्यात्म जगत् के द्वार में प्रवेश करने में असमर्थ बना देता है; वह

बहु संचयी व्यक्ति अपनी सम्पत्ति की संकीर्ण दीवारों में ही स्वयं को आबद्ध कर लेता है।

इसीलिए उपनिषदों की शिक्षा का यही रहस्य है कि विश्वात्मा को पाने के लिये सर्वभूतों में आत्मवत् दृष्टि रखो। धन प्राप्ति की लिप्सा से हम, अल्प वस्तुओं के लोभ में महान् वस्तुओं की उपेक्षा करने लग जाते हैं। पूर्णता ही जिसका रूप है, उसको पाने का यह मार्ग नहीं हो सकता।

युरोप के कुछ आधुनिक विचारक ऐसे हैं, जो उपनिषदों से ज्ञान ग्रहण करके आभार स्वीकार करने में संकोच करते हैं। वे उपनिषद् के गहन ज्ञान को पूरी तरह अवगत नहीं कर सकने के कारण यह आलोचना करते हैं कि 'भारत का ब्रह्म केवल कल्पना में है, और भारतीय ज्ञान संसार की वस्तुओं के निषेध में ही उसकी स्थापना समझता है।' संभव है भारत के कुछ विचारक ऐसा ही मानते हों, किन्तु भारतीय विचारधारा इसके अनुकूल कदापि नहीं है। इसके विपरीत भारतीय मन तो उस अनन्त, व्यापक शक्ति को सृष्टि के हर कण में, अणु-अणु में व्याप्त मानकर उसका हृदय से स्पर्श करने की साधना करता है। यही साधना भारतीय जीवन की पथदर्शिनी रहती है।

जगत् की हर वस्तु में ईश्वर का आवास है[1] इस भावना से ही उपनिषद् का प्रारम्भ होता है।

मैं उस देवता को प्रणाम करता हूँ जो अग्नि में है, जल में है, जिससे सब चराचर विश्व व्याप्त है; जो औषधियों और जो वनस्पतियों में है[2]।

---

१. ईशावास्यमिदं सर्वं यत्किंचित् जगत्यां जगत्।

२. यो देवोऽग्नौ, यो ऽप्सु, यो विश्वम्भुवनमाविवेश, यो औषधीषु यो वनस्पतिषु तस्मै देवाय नमोनमः॥

क्या यह ईश्वर केवल निषेधात्मक, संसार की भ्रांति पर आश्रित हो सकता है? हम उसे केवल सर्वव्यापी देखते ही नहीं बल्कि विश्व के हर पदार्थ में व्याप्त को प्रणाम भी करते हैं। उपनिषद् के ज्ञान से प्रभावित मनुष्य का मन विश्व की सब विभूतियों के प्रति श्रद्धावान् रहता है। उसकी आराधना के लिए हर वस्तु में उसका देवता रहता है।

उसके लिए एक परम सत्य की सत्ता सम्पूर्ण विश्व को सत्य बनाती है। वह इसका मात्र ज्ञान ही नहीं करता बल्कि ज्ञान के बाद उसे भक्ति की दृष्टि से भी देखता है। 'नमोनमः'— हम उसको सर्वत्र प्रणाम करते हैं और बारंबार करते हैं। आनन्द विभोर होकर ऋषि जब सम्पूर्ण विश्व को सम्बोधन करके कहते हैं कि "हे अमृत पुत्रो! तुम दिव्य धाम में रहते हो, मैं उस महान् ज्योति को जानता हूँ जिसकी अंधकार हीन आभा से तुम प्रकाशित हो[1]।" इस आनन्द का अनुभव वही कर सकता है जिसने उस ज्योति का साक्षात् अनुभव किया हो। यह आनन्द केवल काल्पनिक नहीं हो सकता। इस प्रवचन में अस्पष्टता का लेश भी नहीं है।

बुद्ध ने उपनिषद् की शिक्षाओं को जीवन में कार्यान्वित करने की कला का अभ्यास करने के बाद जो संदेश दिया था उसमें भी इन्हीं आदर्शों की व्याख्या की थी। उनका संदेश था कि भूमि या आकाश में, दूर या समीप, दृश्य या अदृश्य जो कुछ भी है उसमें असीम प्रेम की भावना रखो, हृदय में द्वेष या हिंसा की कल्पना भी जाग्रत न होने दो। जीवन की हर चेष्टा में उठते-बैठते, सोते-जागते

१. शृण्वन्तु विश्वे अमृतस्य पुत्राः आये दिव्या धामानि तस्थुः,
वेदाहमेतं पुरुषं महान्तमादित्य वर्णं तमसः परस्तात्।

प्रतिक्षण इसी प्रेम भावना से ओत-प्रोत रहना ही ब्रह्म विहार है, या दूसरे शब्दों में जीवन की यही गति-विधि है जिससे ब्रह्म का आत्मा में विचरण किया जाता है।

वह ब्रह्म की आत्मा क्या है? उपनिषद् के शब्दों में जो आकाश में तेजोमय और अमृतमय है, और जो विश्व-चेतनता है वही ब्रह्म है।[1]

आकाश में ही नहीं, उपनिषद् का कहना है कि जो हमारे अन्तःकरणों में भी तेजोमय और अमृतमय पुरुष है और जो विश्व-चेतना का स्रोत है वह ब्रह्म है।[2] इस बिराट विश्व के रिक्त स्थान में उसकी चेतनता व्याप्त है; और हमारी अन्तरात्मा मेंभी उसी की चेतनता है।

इसलिये इस व्यापक चेतनता की प्राप्ति के लिये हमें अपने अन्तर की चेतनता से विश्व की असीम चेतनता का सम भाव स्थापित करना है। वस्तुतः, मानव के अभ्युदय का सच्चा अर्थ इसी चेतनता के उदय और विस्तार में है। हमारा साहित्य, हमारी कला और हमारे विज्ञान व दर्शन इस चेतनता को व्यापक क्षेत्रों में विस्तीर्ण करने के लक्ष्य की ही पूर्त्ति कर रहे हैं। हमारे भीतर की चेतनता का व्यापक चेतनता में विस्तार करना ही हमारे ज्ञान-विज्ञान का ध्येय रहा है।

इस विस्तार की प्राप्ति के लिये हमें मूल्य चुकाना पड़ता है। वह मूल्य क्या है? वह है--आत्मार्पण, आत्म विसर्जन। विसर्जन द्वारा ही हम आत्मा की अनुभूति प्राप्त करते हैं। उपनिषदों का संदेश है, तुम त्याग से ही भोग करो[3] और किसी के धन का लोभ

---

१ – यश्चायमस्मिन्नाकाशे तेजोमयोऽमृतमयः पुरुषः सर्वानुभूः।

२--यश्चायमस्मिन्नात्मनि तेजोमयोऽमृतमयः पुरुषःसर्वानुभूः।

३ --त्यक्तेन भुंजीथा।

न करो।[१]

गीता ने भी कहा है कि हमें फल की कामना त्याग कर निष्काम कर्म करना चाहिये। कुछ बाहरी विचारकों का मत है कि इस निष्काम भावना का आधार जगत् को मिथ्या माया मानना ही हो सकता है। वस्तुतः सचाई इसके विपरीत है।

जो मनुष्य स्वार्थ-प्रधान व अहंकारी होता है वह अन्य सब वस्तुओं का हीनतम मूल्यांकन करता है। अतः स्वभिन्न वस्तुओं की वास्तविकता का ज्ञान पाने के लिये हम मनुष्यों को अहंभाव का त्याग करना और स्व-प्रधान भावनाओं का नियन्त्रण करना होगा। अपने सामाजिक कार्यों की साधना के लिये भी हमें इसी नियन्त्रण का पालन करना पड़ता है। जीवन को व्यापक बनाने का प्रत्येक प्रयत्न इस बात की अपेक्षा रखता है कि हम दूसरों को देकर ही पाने की कोशिश करें और परकीय वस्तुओं का लोभ त्याग दें। इसी को 'त्याग से भोग करना' कहते हैं। मानव मात्र के प्रयत्नों का यही लक्ष्य है कि वह विश्व के साथ अपनी चेतनता के इस सम्पर्क को अनुदिन विस्तृत करे।

भारत ने इस असीमता को कभी शून्यता या अभाव मात्र नहीं माना। भारत के ऋषि बलपूर्वक कहते आये हैं कि उस असीम चेतनता का ज्ञान ही जीवन की सचाई है और उसे न जान पाना महान् विनाश है।[२] प्रश्न यह है कि फिर उसे कैसे जाना जाय? ऋषि इसका उत्तर देते हैं "उसे सर्वत्र-सर्वगत अनुभव करते हुए जानो[३]।" न केवल प्रकृति में, बल्कि परिवार में, समाज में और राष्ट्र

ते

१—मागृधः कस्य स्विद्धनम्।

२—इह चेद वेदित् अथ सत्यमस्ति, नाचेद् अथ अवेदि महती विनष्टिः। ३—भूतेषु भूतेषु विचिन्त्य

में, इस विश्व चेतनता को जितना अधिक व्यापक सर्वान्तर्गत अनुभव करोगे उतना ही हमारा जीवन समर्थ होगा। इसे अनुभव न करने का परिणाम विनाश के अतिरिक्त कुछ नहीं।

एक समय था जब हमारे दार्शनिक कवि भारत के विशाल चमकते आकाश के नीचे खड़े होकर विश्व भर का प्रेम विभोर हृदय से स्वागत करते थे—इस कल्पना से ही मेरा हृदय आनन्द और मानवता के लिये आशामय भविष्य के स्वप्नों से भर जाता है। हमारे प्राचीन ऋषियों के उद्गार आनन्द के उन्माद में कहे हुए प्रलाप नहीं थे। उन्होंने मनुष्य की छाया को प्रकृति के दर्पण में अतिशय विस्तार से देखने का प्रयत्न नहीं किया था; प्रकृति के छाया-प्रकाश मय रंगमंच पर मनुष्य की अतिरंजित भावनाओं का अभिनय चित्रित करने का ही स्वप्न भी नहीं लिया था। इससे विपरीत उन्होंने मनुष्य को अपनी संकीर्ण सीमाओं से उठने और मानवता से ऊँचा उठकर विश्व में आत्म-भाव बनाने का संदेश दिया था। यह कोरी कल्पनाओं का खेल नहीं था। बल्कि इस सदेश का लक्ष्य यह भी था कि मनुष्य की चेतना प्रकृति के अति-रंजित रहस्यों के जाल से मुक्तता प्राप्त करे।

हमारे तत्वदर्शियों ने अपने अन्तःकरण की गहराई में यह [illegible] लिया था कि जो शक्ति विश्व के असंख्य रूपों में गतिशील होकर प्रकट हो रही है वही शक्ति मनुष्य के अन्तर में चेतना बनकर प्रगट हुई है। दोनों में अटूट समभाव है। उनकी दृष्टि में मृत्यु भी [illegible]मभाव को भंग नहीं कर सकती। 'उसकी छाया में ही अमृत [illegible]वन है और उसी में मृत्यु'[1] यही हमारे ऋषियों का संदेश [illegible]। उन्होंने मृत्यु और जीवन में सहज विरोध की भावना नहीं देखी,

१ यस्य छायाऽमृतं, यस्य मृत्युः।

बल्कि उन्होंने दृढ़ विश्वास के साथ यह कहा कि 'जीवन ही मृत्यु'[१] है उन्होंने जीवन के प्रत्येक स्वरूप और प्रत्येक परिवर्त्तन का सोल्लास स्वागत किया, आने वाले जीवन का भी, और जाने वाले का भी[२]। उनके विचार में समुद्र की लहरों की भांति ही जीवन का आना जाना है। उसमें इस आने जाने से न तो ह्रास ही होता है और न ही उसमें मलिनता आती है।

उपनिषद् का कहना है कि जो कुछ भी है सब उसी अमर व्यापक जीवन से प्राणित हुआ है और हो रहा है[३] क्योंकि "जीवन का स्वरूप बहुत विशाल है[४]।"

पूर्वजों के इस विरासत में पाये महान् संदेश को पुनः सजीव करना हमारा पवित्र धर्म है। यह केवल तार्किक या भावनात्मक सन्देश नहीं है; इसका जीवन के आचरण पर गहरा प्रभाव है। इसे कार्यान्वित करना होगा। उपनिषद् में कहा गया है कि भगवान् सर्वव्यापी है इसलिये सब प्राणियों में कल्याण रूप होकर बसता है[५]।

सब प्राणियों में ज्ञान द्वारा, प्रेम द्वारा और सेवा द्वारा सद्भाव रखना और इस तरह सर्वव्यापक में अपने रूप को अनुभव करना ही मानव धर्म का सर्वश्रेष्ठ तत्व है और यही सारांश उपनिषदों का सन्देश है कि 'जीवन महान् है[६]।'

---

१ प्राणो मृत्युः।

२ नमो अस्तु आपते, नमो अस्तु प्रायते प्राणेह पूतं भव्यं च।

३ यदिदं किंच प्राण एजति निःश्रुतम्।

४ प्राणो विराट्।

५ सर्व व्यापी स भगवान् तस्मात् सर्वगतः शिवः।

६ प्राणो विराट्।

२ : आत्म-बोध

हम देख चुके हैं कि प्राचीन भारत का जीवन-आदर्श अपने आत्मबोध के क्षेत्र का समस्त जगत् में विस्तार करके सर्व-चेतन और सर्वव्यापक ब्रह्म में ही विचरना और उसी में परम आनन्द की अनुभूति करना था। कहा जा सकता है कि यह आदर्श मनुष्य की योग्यता से बाहर की वस्तु है। यदि आत्मबोध के विस्तार का यह उद्योग बाह्य जगत् से प्रारम्भ किया जाय तो इस प्रक्रिया का कहीं अन्त ही नहीं होगा। यह प्रयत्न समुद्र की लहरों को सुखा कर समुद्र-तट तक पहुँचाने के समान है; सब कुछ अपने में समा लेने की कोशिश करते हुए हम कुछ भी न पा सकेंगे; सभी कुछ खो देंगे।

किन्तु वस्तुतः यह बात उतनी असंगत नहीं है जितनी मालूम होती है। मनुष्य की प्रतिदिन की समस्या ही यह है कि वह अपने कार्य-क्षेत्र का विस्तार और अपनी ज़िम्मेदारियों के बोझ का सन्तुलन करने में सदा यत्नशील रहता है। उसके बोझ कम नहीं हैं, वे बहुत हैं और इतने विविध हैं कि उन्हें सम्भालते हुए जीवन की राह पर आगे बढ़ना कठिन मालूम होता है, किन्तु वह जानता कि एक व्यवस्था का निर्माण करके वह अपने बोझ को हल्का बना सकता है। जब वह भार बहुत अटपटा और विषम-सा प्रतीत होने लगता है तो मनुष्य को तुरन्त यह ज्ञान हो जाता है कि उसकी

व्यवस्था में कोई ऐसी त्रुटि रह गई है जिस से वह बोझ सन्तुलित होकर उसके कन्धों पर रखा नहीं जा सका है। तब वह उसे व्यवस्था में रखने का फिर प्रयास करता है। व्यवस्था की इस खोज का ही दूसरा नाम समता या एकता की तलाश है। हम अपने बाह्य उपकरणों की विषमताओं में आन्तरिक एकता की सहायता से समभाव स्थापित करने का प्रयत्न करते रहते हैं। इस अनुशीलन में हमें यह ज्ञान होने लगता है कि उस एक की खोज करना सर्वस्व पाने के बराबर है; और यह कि वही हमारा अन्तिम, सर्वोपरि ध्येय है। इस एकत्व का आधार वही सत्य है जो अनेक को व्याप्त करके सब में रहता है। अस्तित्व तो अनेक घटनाओं का है किन्तु सत्य एक ही है। पशु-बुद्धि केवल घटनाओं के अस्तित्व तक रहती है, मनुष्य-बुद्धि में सत्य तक पहुँचने की योग्यता है। वृक्ष से फल गिरता है, वर्षा आकाश से भूमि पर होती है; इन घटनाओं का इतिहास याद करने लगें तो इसका कोई अन्त नहीं। किन्तु, एक बार इन घटनाओं के मूलभूत आकर्षण के सिद्धान्त "Law of Gravitation" को जानने के बाद घटनाओं के संग्रह की उपयोगिता का अन्त हो जाता है। आप एक सत्य को पा जाते हैं जो असंख्य घटनाओं का आधार है। सत्य की यह प्राप्ति मनुष्य के मन को मुक्तता देकर दिव्य आनन्द से भर देती है। क्योंकि घटनायें उन अन्धी गलियों के समान हैं, जो अपने तक ही समाप्त हो जाती हैं; अपने से बाहिर कहीं नहीं ले जातीं। और सत्य का रास्ता मनुष्य के सामने सारे आकाश का मार्ग खोल देता है, व हमें असीम की राह पर ले जाता है। यही कारण है कि जब डार्विन जैसा तात्विक मनुष्य प्राणिशास्त्र का एक साधारण सा सत्य जान लेता है तो वह वहीं नहीं ठहर जाता है। जिस वस्तु की प्राप्ति

के लिये उसने ज्ञान की ज्योति प्रदीप्त की थी वह उस वस्तु को ही प्रकाशित नहीं करती—उससे दूर-समीप की वस्तुओं को भी उजाला कर देती है। वह उजाला मानव-जीवन की सभी धाराओं में फैल जाता है। इस तरह हम जान पाते हैं कि सत्य सब घटनाओं को व्याप्त करके केवल घटनाओं तक ही सीमित नहीं रह जाता; वह उन सीमाओं को सब दिशाओं से पार करके उस असीम का भी संकेत करता है जिसे आंखों की सीमित शक्ति नहीं देख पाती।

यह बात जिस तरह ज्ञान के सम्बन्ध में सच है उसी तरह अनुभूति के सम्बन्ध में भी है। मनुष्य को उस केन्द्रित सत्य का अनुभव अवश्य होना चाहिए जो उसे अधिक से अधिक विस्तृत या तिरोहित ध्येय को देखने योग्य दर्शन-शक्ति दे सके। वही ध्येय वह सत्ता है जिसके सम्बन्ध में हमारी उपनिषदें कहती हैं कि 'अपनी आत्मा को जानो' या दूसरे शब्दों में उस एकत्व का मूल पहचानो जो सब मनुष्यों में है।

हमारी अहंमूलक प्रवृत्तियां या स्वार्थपरक कामनायें हमारी आत्मा के सच्चे स्वरूप को कोहरे को तरह ढंक लेती हैं और जब हमें आत्मानुभूति हो जाती है तो हमारी आत्मा उस अहंकार के अभ्र को पार करके भी स्वयं प्रकाशित हो जाती है और तभी हम सम्पूर्ण विश्व को आत्म-भावना से देख सकते हैं। हमारी आत्मा और विश्वात्मा में जो सहज समता है वह हमें विश्वमात्र का आत्मीय बना देती है। बच्चे जब अलग अलग अक्षरों का बोध करने लगते हैं तो इस बोध में उन्हें कुछ आनन्द नहीं मिलता, क्योंकि तब वे इस बोध के असली अभिप्राय को नहीं जानते, बल्कि वह अक्षर-बोध उनके मन को थका देता है। उसमें उन्हें रस तभी आने लगता है जब वे अक्षर शब्दों और वाक्यों में जुड़कर कोई भाव प्रकट

करना शुरू करते हैं।

इसी तरह हमारी आत्मा जब संकीर्ण स्वत्व की सीमाओं में बन्धी रहती है तो अपनी विशेषता खो देती है। इसकी विशेषता एकत्व में ही है। वह विश्व से समभाव होकर ही अपने सत्य स्वरूप का बोध कर सकती है, और तभी उसे आनन्द की अनुभूति होती है। मनुष्य भय और संघर्ष की स्थितियों में तभी तक रहा जब तक वह प्रकृति के व्यापक समत्व के सिद्धान्त को नहीं जान पाया; तब तक सारा संसार उसे अजनबी-सा मालूम होता था। अन्त में जो ज्ञान उसे हुआ वह इसके अतिरिक्त कुछ नहीं था कि उसने अपने अन्तःकरण और विश्व की व्यवस्था के बीच जो सहज समता है उसे अनुभव कर लिया। यही वह सूत्र है जिसने मनुष्य को संसार से बांधा हुआ है। इस बात का ज्ञान उसके लिये बड़ा हर्षप्रद हुआ क्योंकि तब वह अपने दूर-समीप की चीज़ों में अपनी ही छाया देखने लगा। किसी वस्तु को समझने का अर्थ यह है कि हम उसमें कोई तत्व ऐसा पाते हैं जो हमारा ही अंश हो।

इस तरह हम अपने को ही अपने से बाहर की चीजों में पाकर आनन्दित होते हैं। इस बोध द्वारा संबन्धित होना हमारे संबंध को सर्वथा पूर्ण नहीं बनाता। यह सम्बन्ध पूर्णता को पाता है प्रेम द्वारा ही। प्रेम में भेदभाव नहीं रहता और उस पूर्णता को पाकर मानव-आत्मा अपना चरम लक्ष्य पा लेती है जब वह अपनी सीमाओं को पार करके असीम को स्पर्श करने लगती है। प्रेम ही मनुष्य को यह ज्ञान देता है कि वह अपनी सीमाओं से बाहिर भी है और यह कि वह विश्व की आत्मा का ही भाग है।

समता की यह अनुभूति मनुष्य की आत्मा में सदा सजग रह कर साहित्य, कला, विज्ञान और धर्म की रचना द्वारा प्रकृति के

साथ अपना संपर्क बनाती रहती है। तभी हमारी महान् आत्माएं मनुष्य प्रेम के अर्थ स्वत्व का त्याग करके आत्मा का सच्चा अर्थ बतलाती रही हैं। प्रेम के मार्ग में उन्होंने कष्ट सहे, शारीरिक यन्त्रणायें सहीं; यहां तक कि मृत्यु का भी स्वागत किया। उन्होंने आत्मा के सच्चे स्वरूप को समझा और आत्मिक जीवन व्यतीत करके मानवता के चरम सत्य की पुष्टि की। इसीलिए हम उन्हें महात्मा—महान् आत्मा वाला पुरुष कहते हैं।

एक उपनिषद् में यह कथन है: तुम अपने पुत्र को इसलिये प्रेम नहीं करते कि वह पुत्र है बल्कि इसलिये कि तुम उसमें अपनी आत्मा की कामना करते हो; उसमें स्वकीय आत्मा का प्रतिबिम्ब देखते हो। इसका अर्थ यह है कि जिसे भी हम प्रेम करते हैं उसमें अपनी आत्मा का रूप देखते हैं। यही परम सत्य हमारे अस्तित्व का आधार है। परमात्मा हमारे अन्तर में रहता है, वही हमारे पुत्र में है; अपने पुत्र में प्रेम का अनुभव इस सत्य की अनुभूति का ही परिणाम है।

प्रायः यह होता है कि हमारा पुत्र-प्रेम या मित्र-प्रेम हमारी आत्मा के और अधिक विकास के मार्ग में बाधक बन जाता है। फिर भी इसका अपना महत्त्व है। अपने से बाहर आत्मीयता की तलाश में यह पहला क़दम होता है। यह हमारी आत्मा के इस स्वभाव को प्रथमवार प्रगट करता है। इसी प्रथम अनुभूति के आधार पर हमें इस परम सत्य का साक्षात् होता है कि अपने अहंभाव का त्याग करके दूसरों से समभावना बनाने में ही आनन्द की पराकाष्ठा है। यह प्रेम हमें नयी शक्ति, और नयी अन्तः दृष्टि देता है। किन्तु यदि हम इसकी सीमाओं को संकुचित कर दें तो यही प्रेम अपने सच्चे रूप का विद्रोही हो जाता है; तब, हमारा स्नेह संकुचित

परिधि में बंध जाता है; हमारे पारिवारिक सम्बन्ध स्वार्थ और विद्वेष भावनाओं से भर जाते हैं; हमारे राष्ट्र भय और संशय की दीवारें खड़ी कर लेते हैं। यह उसी तरह है जैसे कोई बन्द दीवारों में उस दहकती आग को बांध ले, जो अपनी ज़हरीली गैसों के भभकने तक जलती और लपटें छोड़ती रहे। फिर भी यह आग बुझने से पहले उस आनन्द का प्रकाश कर जाती है जो उसे सर्द, काले अन्धकार से मुक्ति पाने में हुआ है।

उपनिषदों का कथन है कि विश्व-चेतना की कुंजी आत्म-चेतना है। अपनी आत्मा को अपने से भिन्न जानना ही ब्रह्मज्ञान की पहली सीढ़ी है। हमें पूर्ण श्रद्धा के साथ यह ज्ञान होना चाहिये कि हमारा सच्चा रूप आत्मा में है। यह ज्ञान हमें संसारी अहंकार, भय, लोभ से ऊपर उठाकर और यह मानकर कि संसारी लाभ, हानि व जन्ममरण से हमारी आत्मा अछूती रहती है, हो सकता है। मुर्गी का बच्चा जब अंडे की कैद से मुक्त होता है तो वह जानता है कि उस अंडे की चारदिवारी का वस्तुतः उसके जीवन में कोई भाग नहीं है। वह अंडे का खोल मृत वस्तु है, ना उसमें वृद्धि है। ना विकास। वह अपने बाहिर की दुनिया के सम्बन्ध में कोई प्रकाश भी नहीं डालता। वह खोल कितना ही सुन्दर हो, स्वाधीन जीवन की पूर्णता पाने के लिये उसे तोड़ना ही होगा। इसी तरह मनुष्य को अपने दैहिक बंधनों को तोड़कर विश्वात्मा से मिलने की स्वाधीनता पानी होगी, तभी जीवन पूर्ण हो, सम्पूर्ण विश्व से समभाव स्थापित होगा।

मैं पहले ही कह चुका हूं कि हमारे तत्वदर्शी पूर्वजों ने कभी संसार के स्वत्व के त्याग का, जिसका परिणाम शून्यता है, उपदेश नहीं दिया। उनका उद्देश्य आत्मा का बोध कराना या दूसरे शब्दों

में संसार को पूर्ण सत्य में पाना था। जब ईसा ने कहा था: "विनम्र व्यक्ति सौभाग्यशाली हैं, वही पृथ्वी के स्वामी बनेंगे" तो ईसामसीह को यही अभिप्रेत था। उन्होंने इसी सत्य की घोषणा की थी कि अहंकार का मद छोड़कर ही मनुष्य सच्चे अर्थों में स्वत्व का स्वामी बनता है। तब उसे संसार में अपना स्थान बनाने के लिये संघर्ष नहीं करना पड़ता; वह सर्वत्र स्वयं सुरक्षित होता है, उसकी आत्मा को उस स्थान के पाने का अमर अधिकार है। अहंभाव का झूठा अभिमान आत्मा के पूर्ण विकास में रुकावट डालता है और सम्पूर्ण विश्व के साथ समभाव बनाने के कार्य को पूर्ण बनाने में बाधक बन जाता है।

साधुसिंह को उपदेश देते हुए भगवान् बुद्ध ने कहा था: "यह सच है कि कर्म के त्याग का उपदेश देता हूं, किन्तु यहां मेरा अभिप्राय केवल उन कर्मों से है जो मन-वचन-कार्य, किसी भी दृष्टि से अकल्याणकारी हों। यह सच है कि मैं त्याग का उपदेश देता हूं, किन्तु मेरा उद्देश्य केवल अहंकार, वासना, कुविचार, अज्ञान के ही त्याग से है न कि प्रेम, क्षमा, दान और सत्य के परित्याग से।"

बुद्ध ने जिस मुक्ति का प्रचार किया था वह अविद्या के बन्धनों से मुक्ति थी। अविद्या हमारी अनुभूतियों को अन्धकारमय बनाती है और उन्हें केवल अहंभाव के आसपास सीमित रखती है। यही प्रवृत्ति हमारे अन्य स्वार्थपूर्ण आवेशों, लोभ, मोह, क्रोध और क्रूरता का कारण बनती है। मनुष्य जब सोता है तो उसकी वृत्तियां संकीर्ण शारीरिक जीवन-चेष्टाओं की सीमा में ही बंध जाती हैं इसीलिये उसे स्वयं का ज्ञान नहीं रहता। इसी तरह मनुष्य जब अविद्यामय जीवन व्यतीत करता है तो वह अपनी ही सीमा में बन्द हो जाता है। उसकी अनुभव शक्ति अपनी परिस्थितियों के महान् अस्तित्व को

जानने के लिये जाग्रत नहीं रहतीं। वह आत्मा के सत्य स्वरूप को नहीं जान पाता।

एक बार मैं बंगाल के एक गांव में दो भिन्न पन्थों के सन्तों से मिला था। मैंने उनसे पूछा "क्या आप अपने धर्म की विशेषता पर प्रकाश डाल सकते हैं?" उनमें से एक ने किंचित् संकोच के बाद यह कहा: "इसकी परिभाषा कठिन है।" दूसरे ने कहा: "यह तो सरल ही काम है। पहले हम गुरु की देख-रेख में अपनी आत्मा को जानने का यत्न करते हैं; जब यह काम पूरा हो जाता है तो सब में निवास करने वाली परम-आत्मा का ज्ञान भी मिल जाता है।" मैंने पूछा "तब तुम अपने सिद्धान्त का प्रचार सारे संसार में क्यों नहीं करते।" वह बोला "जो प्यासा होगा वह स्वयं नदी के पास आयगा।" "क्या कोई आया" मेरे इस प्रश्न के उत्तर में वह केवल थोड़ा मुस्कराया और बड़े धैर्यपूर्ण सन्तोष के साथ उत्तर दिया: "आना ही होगा सब को।"

बंगाल के गांव का वह आत्मज्ञानी सच्चा था। मनुष्य अपने भोजन वस्त्र की आवश्यकताओं से भी अधिक आवश्यक आत्मिक भूख को शान्त करने के लिये तीर्थ यात्रा करता है। मनुष्य का इतिहास अपनी अमर आत्मा की अनुभूति के लिये अनुष्ठित यात्राओं का इतिहास है। मनुष्य ने साम्राज्यों का निर्माण किया और उन्हें अपने हाथों मिटा दिया; वैभव के अम्बार भी जुटाये और निर्मोही हाथों से उन्हें धूल में मिला दिया; अपने स्वप्नों की विशाल प्रतिमायें बनाईं और पुराने खिलौनों की तरह उन्हें तोड़ दिया; सदियों के प्रयत्न से निर्मित कला कृतियों को मिटा कर नये सिरे से नई कल्पना के आधार पर बनाना शुरू कर दिया; इन सब से यही मालूम होता है कि मनुष्य एक युग से दूसरे युग में जाता हुआ प्रतिक्षण क़दम-

क़दम अपने सच्चे स्वरूप को जानने की आत्मबोध की आखिरी मंज़िल पर पहुंच रहा है; वह आत्मा जो मनुष्य के इन सब महानतम निर्माणों, उद्योगों और कल्पनाओं से बड़ा है। इस आत्माभिमुख यात्रा में बड़े से बड़े विध्वंस और विनाश भी रुकावट नहीं डाल सकते। मनुष्य की भूलों और असफलताओं का कोई अन्त नहीं है, उसका मार्ग प्राचीन अवशेषों और खण्डहरों से पटा पड़ा है; उसके कष्टों की तीव्रता प्रसव की पीड़ा से कम नहीं; किन्तु उसका लक्ष्य महान् है। ये कष्ट उसकी भूमिका मात्र हैं। मनुष्य ने बहुत बलिदान किये हैं; अभी तक वह इस बलिदान पर आगे बढ़ता जा रहा है। उसकी संस्थायें उन मन्दिरों के समान हैं जहां वह प्रतिदिन अपने चमत्कारपूर्ण, विशाल बलिदानों का नैवेद्य चढ़ाने आता है। यह साधना, यह पूजा निष्प्रयोजन और असह्य हो जाय यदि मनुष्य अपने अन्तःकरण में अनिर्वचनीय आत्मिक आनन्द की अनुभूति न करता हो। यही आत्मा है जो अपनी दिव्य शक्ति की परीक्षा इन कष्टप्रद बलिदानों से करती है और जो त्याग द्वारा अपने अक्षय कोष का प्रमाण देती है। इस पथ के यात्री इसी ओर आ रहे हैं, वे संसार के सच्चे दायधन को लेने आ रहे हैं; उनकी बोधशक्ति का विस्तार प्रतिक्षण हो रहा है; ऊँची से ऊँची समता को पाने की ओर उनकी यात्रा निरन्तर चालू है और वे एक केन्द्रीभूत सत्य के, जो सब को व्याप्त किये हुए है, प्रतिक्षण निकट आ रहे हैं।

मनुष्य की असमर्थताओं का अन्त नहीं। जब तक उसे अपनी आत्मा का सच्चा बोध नहीं हो जाता तब तक उसकी आवश्यकताओं का भी अन्त नहीं है; तब तक उसकी दृष्टि में यह संसार एक सदा प्रवाहमान भण्डार है; एक जादू है जो समझ में नहीं आता, यह भी कि वह है या नहीं। किन्तु जिस मनुष्य ने आत्मा का बोध

कर लिया है, उसे समस्त विश्व का एक निश्चित केन्द्र दीखने लगता है जिसकी परिधि में चारों ओर अन्य सब वस्तुओं का अपना अपना निर्धारित स्थान बना है। उसी केन्द्र से वह मनुष्य समतापूर्ण जीवन का वरदान और आनन्द की अनुभूति पा सकता है।

एक समय था जब पृथ्वी केवल तरल द्रव्यों का पुंज थी, उसके कण प्रचण्ड गर्मी के कारण दूर २ बिखरे हुए थे; अभी उसका निश्चित आकार नहीं बना था; न उसमें रूप था न उसका लक्ष्य ही स्पष्ट था; वह अभी केवल अग्नि और गति रूप में ही थी। धीरे-धीरे एक शक्ति ने, जो सब बिखरे और परस्पर टकराते कणों को केन्द्र में एकत्र कर रही थी, पृथ्वी के कणों को भी एक गोलाकार में जमा कर दिया; तभी उसे सूर्य की परिधि में घूमने वाले नक्षत्रों में उचित स्थान मिला, जैसे हीरों के कण्ठहार में नीलम को जगह मिलती हो। हमारी भी यही स्थिति है। जब हमारी अन्धी वासनाओं का वेग और ताप इसे सब ओर फैलाता है तो हम न कुछ ग्रहण कर सकते और ना ही कुछ दे सकते हैं। किन्तु, जब आत्म-निग्रह की शक्ति द्वारा हम अपनी आत्मा में ही अपना केन्द्र पा लेते हैं, उस शक्ति से जो सब संघर्ष शील तत्वों में समता बनाती है और बिखरे कणों को एकत्र करके एकत्व स्थिर करती है, तब हमारी बिखरी हुई स्मृतियां आत्मबोध का रूप ले लेती हैं और हमारे हृदय में उद्भूत क्षणिक वासनायें प्रेम में पूर्णता पा लेती हैं और हमारे विचार व कार्य अविच्छेद्य रूप से हमारी आन्तरिक समता का भाग बन जाते हैं। तभी हमारे जीवन की सब चेष्टायें अनन्त लक्ष्य की ओर अग्रसर होती हुई भासित होती हैं।

उपनिषदें बलपूर्वक कहती हैं "उसी एक को, आत्मा को

जानो[1]। यही पुल है जो अमरता की ओर ले जाता है[2]।"

यही मनुष्य का अन्तिम लक्ष्य है कि वह उस एक को जाने; जो उसके अन्दर है, सत्य है और उसकी आत्मा है। यही वह कुंजी है जो आत्मिक जीवन का स्वर्गीय द्वार खोलती है। मनुष्य की कामनायें अनेक हैं, जो संसार के विविध आकर्षणों के पीछे पागल बनी दौड़ती हैं। किन्तु उसके अन्दर जो एक है वह एकत्व का शोधक है; ज्ञान के, प्रेम के और जीवन के अन्तिम लक्ष्य के एकत्व का। उसे चरम आनन्द की प्राप्ति तभी होती है जब वह असीम को उसकी बाह्य समता की परिधि में पा लेता है। उपनिषदों का वचन है: "केवल ऐसे प्रशान्तमना मनुष्यों को ही शाश्वत सुख मिलता है जो उस एक को अपने अन्तर में स्थित जान लेते हैं, जो विश्व में बहुत रूपों में अपने को प्रकट करता है[3]"।

वह आत्मस्थ संसार के विविध मार्गों से सब में स्थित एक की खोज में पर्यटन कर रहा है; यही उसकी प्रकृति है, यही उसका आनन्द। किन्तु इस चौमुखे रास्ते पर चलता हुआ वह कभी अपने लक्ष्य तक नहीं पहुँचता, यदि वह उस ज्योति से स्वयं प्रकाशित न हो, जिसके प्रकाश में उसे अपने लक्ष्य का आभास मिलता है। उस परम लक्ष्य का आभास अपनी अन्तरात्मा में पाना किसी बाह्य प्रयत्न का परिणाम नहीं। वह अन्तर्ज्ञान है; जो स्वयं होता है। उसका बाह्य प्रदर्शन नहीं होता। हमारी आंखें भी जब देखती हैं तो वस्तु के पूरे रूप को देखती हैं, उसे टुकड़ों में बांटकर नहीं, बल्कि

---

१ तमेवैकं जानथ आत्मानम्।

२ अमृतस्यैषा सेतुः।

३ एकं रूपं बहुधा यः करोति, तमात्मस्थं येऽनुपश्यन्ति धीराः, तेषां सुखं शाश्वतं नेतरेषाम्।

भिन्न टुकड़ों को एकत्र करके। देखने से पूर्व दर्शनीय वस्तु का हमसे समभाव हो जाता है। यही होता है जब हमें आत्मा का बोध अन्तर्ज्ञान द्वारा होता है, जो आत्मा का परम-आत्मा से सहज समभाव की अनुभूति के बिना नहीं हो सकता।

उपनिषद् का कहना है "वह देवता जो विश्व के विविध कर्मों से स्वयं को प्रगट करता है, मनुष्य के हृदय में निवास करता है। जो अनुभूति और मन की साधना द्वारा अन्तःवासी को जान लेते हैं वे अमर पद को पाते हैं"।[1]

वह 'विश्वकर्मा' है; अर्थात् विश्व की विविध चेष्टाओं, रूपों और शक्तियों में उसका बाह्य रूप प्रगट होता है। इसलिये प्रकृति के राज्य में जब हम सत्य की शोध करेंगे तो विज्ञान की सहायता से धीरे २ अन्वेषण-विश्लेषण द्वारा करेंगे किन्तु, जब अध्यात्म जगत् में उसकी शोध करेंगे तो वह सीधे अन्तःज्ञान द्वारा होगी। धीरे धीरे ज्ञानवृद्धि करते हुए हम सदियों में भी उसको नहीं पा सकेंगे क्योंकि वह टुकड़ों में बंटा हुआ नहीं है; एक है। उसे हम अपने हृदय का हृदय और आत्मा की आत्मा मानकर ही पा सकेंगे। अपने अहंभाव का त्याग कर हम उसके समीप जाते हैं, तब जो दिव्य प्रेम और आनन्द की अनुभूति होती है, वही हमें उसका बोध करायेगी।

मानव-हृदय ने शायद इतनी हृदय-स्पर्शी प्रार्थना कभी नहीं की, जितनी कि हमारे ऋषियों ने इन शब्दों में की थी : 'हे स्वयं को प्रकाशित करने वाले! अपने को मेरे अन्तर में प्रकाशित कर'।[2] हमारे सब दुःखों का कारण यह होता है कि हम 'अहं' के पुजारी बन

१—एष देवो विश्वकर्मा महात्मा सदा जनानां हृदये सन्निविष्टः हृदा मनीषी मनसाभिक्लृप्तो ये एतद्विदुरमृतास्ते भवन्ति।

२—आविराविर्मयेधिः।

गये हैं—वह अहं जो दुर्विनीत और संकीर्ण है, जो अपने से बाहिर की वस्तु देखने के लिये अन्धा है और जो प्रकाश को प्रतिक्षिप्त भी नहीं करता। हमारा अहं अपने ही विसंवादी स्वरों का आलाप करता है; यह वह 'वीणा' नहीं है जिसकी तारों का स्वर असीम के निनाद से झंकृत हो उठे। असन्तोष, असफलताओं की थकान, बीते समय के निरर्थक पछतावे और भविष्य की निष्कारण चिन्तायें हमारे उथले दिल को मुरझाये रहती हैं क्योंकि हमने अपनी आत्मा को विश्वात्मा से नहीं मिलाया; स्वयं-प्रकाशित ने हमारे अन्तःकरण में अपने को प्रकाशित नहीं किया। तभी हम पुकार उठते हैं: "हे रुद्र! तुम अपनी मुस्कान द्वारा नित्य हमारी रक्षा करो।"[1] ये सब मौत के प्राणान्तक विष हैं जो स्वयं तृप्ति की कामना, सदा जलने वाली तृष्णा की आग और धन-संग्रह के अहंकार के रूप में प्रगट होते हैं। हे रुद्र! शक्तिशाली देवता! इस अंधेरे कफन को फाड़ दो और अपनी प्राणदा मधुर मुस्कान को इस अन्धकार के परदे को चीर कर आने दो, जो मेरी आत्मा को जगादे।

असत्य से मुझे सत्य की ओर, अन्धेरे से प्रकाश की ओर, और मृत्यु से अमरता की ओर ले चलो। यह प्रार्थना है, किन्तु इसकी पूर्त्ति की आशा बड़ी कठिन है। सत्य और असत्य के बीच, मृत्यु और अमरता के बीच की असीम दूरी को कैसे पार किया जा सकता है। यह काम बड़ा कठिन है, किन्तु जब स्वयं-प्रकाशित प्रभु हमारे अन्तःकरण में स्वयं को प्रकाशित करता है तो यह असंभव प्रतीत होने वाला काम भी एक क्षण में पूरा हो जाता है। ऋषि पुकारते हैं: 'हे पिता हमारे सब पापों को दूर करदो[2]।' क्योंकि

१—रुद्र! यत ते दक्षिणं मुखं तेन मां पाहि नित्यम्

२. असतो मां सद्गमय तमसो मा ज्योतिर्गमय मृत्योर्माऽमृतं गमय।

पापमय कामों में ही मनुष्य अपनी आत्मा से विद्रोह करके जगत् की संकीर्ण भावनाओं का सहयोग ग्रहण करता है। तब अहंभाव-पूर्ण स्वार्थों की आत्मा पर जीत होती है। पाप हमारे अन्त:करण की निर्मलता को धुंधला कर देते हैं। पाप में हम क्षणिक भोगों की चाह करते हैं, इसलिये नहीं कि उनमें सचमुच कोई मोहकता होती है किन्तु इसलिये कि हमारी वासना का ही लाल रंग उन्हें ऐसा रंग दे देता है जिसमें वे आकर्षक दीखते हैं; हम वस्तुओं की कामना करते हैं, इसलिये नहीं कि उनमें सचमुच कमनीयता या महत्ता है बल्कि इसलिये कि हमारी भूख उसे बड़ा आकार दे देती है। जिससे वे बड़ी दीखने लगती हैं। छोटे को बड़ा बनाने की और वस्तुओं को मिथ्या रूप देने की यह प्रवृत्ति हमारे जीवन की समता को हर कदम पर नष्ट करती है। हम वस्तुओं के सच्चे मूल्य का मान नहीं कर पाते और जीवन के परस्पर विद्रोही विविध प्रलोभनों में भटक जाते हैं। अपनी विविध प्रवृत्तियों को एक ही आत्मा के शासन में न ला सकने के कारण ही हम विश्वात्मा से जुदा होने की इतनी तीव्र यन्त्रणा अनुभव करने लगते हैं कि पुकार उठते हैं—हे पिता, हमारे सब पापों को दूर करो। हमें केवल वही दो जो कल्याणमय है;[1] वह कल्याण जो हमारी आत्मा का भोजन है। भोगों की चाह हमें अपनी कामनाओं में कैद कर देती है, किन्तु कल्याण की भावना द्वारा इस कैद से छूट कर हम सब के प्रिय हो जाते हैं। जैसे बच्चा मां के गर्भ में माता के जीवन से ही रस लेकर पुष्ट होता है, उसी तरह हमारी आत्मा कल्याणकारी भावनाओं की शिराओं द्वारा ही—जो असीम से युक्त होने का एकमात्र माध्यम हैं—विश्वात्मा से जीवन लेकर पुष्ट होती है। तभी यह कहा

---

१. विश्वानि देव सवितर्दुरितानि परासुव यद्भद्रं तन्न आ सुव।

गया है कि—"जो कल्याण के भूखे प्यासे हैं वे धन्य हैं; क्योंकि उनकी चाह अवश्य पूरी की जायगी।" कल्याण ही आत्मा का दिव्य भोजन है। इसके सिवा और कोई मनुष्य का परितोष नहीं कर सकता; कोई भी साधना मनुष्य को आत्मिक जीवन बिताने का साधन नहीं दे सकती। ऋषि कहते हैं 'हम उसको प्रणाम करते हैं जहां से हमारे जीवन का आनन्द-स्रोत प्रवाहित होता है[1]। हम उसे प्रणाम करते हैं जहां से हमारी कल्याण भावनाओं का उदय होता है[2]। हम उसे प्रणाम करते हैं जो कल्याणरूप और अतिशय कल्याणमय है[3]।' यही वह है जिससे युक्त होकर हम शान्ति, समता, कल्याण और प्रेम की सब भावनाओं से युक्त हो जाते हैं।

मनुष्य अपने पूर्ण विकास की सीमा तक पहुंचने को आतुर है। यही आतुरता उसे धन-सामर्थ्य जोड़ने को प्रेरित करती है। वह नहीं जानता कि धन और शक्ति के संग्रह में उसे पूर्ण विकास नहीं मिलता। यह विकास उसे आन्तरिक प्रकाश में ही मिलेगा, बाह्य साधनों से नहीं। अन्तर का दीपक जलते ही उसे मालूम हो जाता है कि मनुष्य का पूर्ण विकास, उसके अन्तःकरण में ईश्वर के प्रकाशित होने पर ही होता है। तभी वह इसके लिए, आत्मा के प्रदर्शन के लिये, जो उसकी आत्मा में ईश्वर द्वारा स्वयं को प्रदर्शित करने से ही सम्भव है—प्रार्थना करता है। तभी मनुष्य पूर्ण होता है, उसे पूर्ण प्रदर्शन मिलता है, जब उसकी आत्मा असीम के व्यक्तित्व में अपना निवास अनुभव करती है—जो आविः है और जिसका स्वभाव ही स्वयं को प्रकाशित करना है।

---

१. नमः शंभवाय। २. नमः शंकराय च।
३. नमः शिवाय शिवतराय च।

मनुष्यों के सब दुखों का मूलकारण ही यह है कि वह पूरी तरह प्रकाश में नहीं आता; वह अपने ही अंधेरे में, अपनी संकीर्ण स्वार्थ-मूलक कामनाओं में भटका रहता है; वह अपनी व्यक्तिगत परिस्थितियों से बाहिर नहीं निकल पाता । इसीलिये उसके हृदय से यह प्रार्थना उठती है, हे प्रभु ! आप मुझ में स्वयं को प्रकाशित करो । इस तरह प्रकाश्य रूप में आने की मनुष्य की इच्छा उसकी भूख-प्यास, धन-संग्रह या लोक सन्तान की सब तृष्णाओं से अधिक बलवती होती है—क्योंकि यह उसकी प्रकृति-जन्य इच्छा है । इसे बाह्य परिस्थितियों से उत्तेजना मिलने की आवश्यकता नहीं । असीम का सीमाबद्ध प्रकृति में प्रकाशित होना, अव्यक्त का व्यक्त वस्तुओं में प्रदर्शित होना ही सम्पूर्ण सृष्टि रचना का मूल है । यह स्वभाव समस्त विश्व की प्रकृति में है, मनुष्य की आत्मा में भी । क्योंकि तभी एक आत्मा दूसरी आत्मा में अपने रूप के प्रदर्शन की कामना करती है और स्वतन्त्र कामना अपने स्वेच्छा से किये गये आत्मार्पण द्वारा विजित पुरस्कार को पाने की अधिकारिणी बनती है ।

मनुष्य की आत्मा को विश्व के प्रभु ने अपने शासन से मुक्त किया हुआ है । अपने दैहिक व मानसिक कार्यों में–जहां उसे प्रकृति के सहयोग पर निर्भर रहना पड़ता है–उसे अवश्य उस प्रभु की शक्तियों का सहारा लेना पड़ता है किन्तु उसकी आत्मा प्रभु की छत्रछाया में रहने व न रहने को पूर्णतः स्वतन्त्र है । यह क्षेत्र ऐसा है जहां प्रवेश पाने के लिये आत्मा को प्रेम विजय पानी होती है । यहां प्रेम प्रभु बनकर नहीं, अतिथि बनकर आता है इसलिए उसे अन्तरात्मा के बुलाने की प्रतीक्षा करनी पड़ती है । मनुष्य की आत्मा के साम्राज्य में विश्व प्रभु ने अपना अनुशासन नहीं रखा–यहां वह स्वयं प्रभु को चाह लेकर आता है । उसकी समस्त शक्तियां–प्रकृति

के नियम—इस द्वार के बाहर रहती हैं। इसकी सीमा के अन्दर केवल सौन्दर्य आ सकता है, जो प्रेम का प्रथम संदेश-हर बनकर आता है।

आत्मा की इस नगरी में ही प्रभु ने विद्रोह का अधिकार दिया है। केवल मनुष्य की आत्मा में ही विषमता, असत्य और अराजकता का अस्तित्व होता है। जब यह अराजकता सीमा पार कर जाती है तो हम पुकार उठते हैं, "यदि सचमुच कोई प्रभु होता तो ऐसी अंधेरगर्दी कदापि न होती"। निःसन्देह यहां हमारा प्रभु केवल साक्षी बनकर देखता है; तटस्थ रह कर सारी उच्छृंखलताओं को निरपेक्ष भावों से सहन करता है और यदि हम आत्मा के द्वार बन्द करलें तो कभी उन्हें बलपूर्वक नहीं खोलते। क्योंकि हमारी आत्मा ने किसी बाह्य शक्ति की प्रेरणा से नहीं-बल्कि प्रेम से ही पूर्णता पानी है और स्वतन्त्र इच्छा से ही अपने प्रभु में विलीन होकर मिलना है।

जिसकी आत्मा का इस तरह प्रभु में मिलन हो चुका है वह मानव-उपवन का पुष्प बन जाता है। क्योंकि उस मिलन में ही 'आविः' का प्रस्फुटन मनुष्य की आत्मा में होता है और वहीं मनुष्य के अन्तः-करण से विश्वात्मा की और मनुष्य-प्रेम की विश्व के अमर प्रेम से एकात्मता होती है।

इसीलिये हमारे देश में प्रभु के भक्तों का इतना आदर होता है। पश्चिम के देश इसे पाखंड कहेंगे। हम उस भक्त में प्रभु के पूर्ण आनन्द को पुष्पित होता अनुभव करते हैं। उसका जीवन प्रभु प्रेम से दीप्त होता है जिसका प्रकाश हमारे पार्थिव प्रेम को उजला बनाता है। हमारे जीवन की आन्तरिक भावनायें, सुख दुख की अनुभूतियां इस दिव्य प्रेम की लीला को स्पर्श करने के लिये चारों ओर एकत्र हो जाती हैं और जो अभिनय करती हैं उसीकी छाया हम प्रभु-प्रेमी के जीवन में देखते हैं। इस असीम रहस्य का स्पर्श हमारी साधारण प्रवृत्तियों को संगीत के स्वर में बांध देता है। समस्त वृक्षों, तारों और

पर्वत-मालाओं में हमें एक ऐसी लाक्षणिक प्रतिमा का आभास होने लगता है जो किसी ऐसी रहस्यमय बात को कहने के लिये आतुर है, जो शब्दों में नहीं लाई जा सकती। जब मनुष्य की आत्मा अपने 'अहं' के परदे को उतार कर अपने प्रेमी प्रभु के सन्मुख आती है तो वह विधाता को नई-नई रचनाओं में लीन पाती है। उसका प्रेमी कलाकार है। अपनी कला में वह नये २ रूपों में स्वयं प्रगट होता है, और हर रूप में उसका सौन्दर्य बढ़ता जाता है। हमारी प्रेमी आत्मा इस नित्य नये रूप को मुग्ध भाव से देखती रहती है।

मनुष्य का हृदय जब विविध भोगों के रास्तों से लौटकर आत्मा से मिलता है तो असीम का बोध उसके लिये स्वभावतः स्वयं प्रकाशित हो जाता है; जैसे अग्नि की ज्वालाओं में प्रकाश स्वाभाविक। तब, जीवन के सब संघर्ष व द्वन्द शान्त हो जाते हैं; ज्ञान, प्रेम और कर्म में एकरसता आ जाती है; सुख और दुख में समता हो जाती है, भोग और त्याग दोनों का कल्याण की भावना से एकत्व होजाता है; सीमित व असीम की खाई प्रेम से भर जाती है; उस समय प्रत्येक क्षण अनन्त का संदेश देता है; निर्गुण भी सुवासित पुष्प के रूप में प्रगट होता है; निराकार अनन्त हमें पिता के तुल्य अपनी भुजाओं में ले लेता है और मित्र की तरह हमारे साथ चलता है। यह हमारी आत्मा ही है—जो स्वभाव से ही सब सीमाओं को पार कर सकती है और विश्वात्मा से समभाव बना लेती है। जब तक यह समभाव नहीं बनता तब तक हमारा जीवन केवल कुछ अभ्यास-सिद्ध कार्यों का जीवन रहता है। तबतक संसार एक यन्त्र सा प्रतीत होता है, जिसका उपयोग करने के लिये उस पर अधिकार किया जाता है और जिसके प्रहारों से बचने के लिये अपनी सुरक्षा के साधन जुटाये जाते हैं। तबतक हम यह नहीं सोच सकते कि यह संसार हमारा समभागी साथी है; अपनी प्राकृतिक परिस्थितियों में भी और आत्मिक जीवन के क्षेत्र में भी।

३ : पाप की समस्या

संसार में बुराई क्यों है, यह प्रश्न वैसा ही है जैसे यह कि संसार में अपूर्णता क्यों है—अथवा यह कि संसार की रचना का अर्थ ही क्या है ? हमें यह मान लेना पड़ेगा कि इसके सिवा और कुछ सम्भव ही नहीं था; रचना का अपूर्ण होना, धीरे-धीरे विकसित होना अनिवार्य था। और यह प्रश्न भी निरर्थक है कि 'हमारा अस्तित्व किसलिये है' ?

वस्तुतः प्रश्न यह होना चाहिये; यह अपूर्णता ही क्या अन्तिम सत्य है ? क्या बुराई अनिवार्य और यथार्थ है ? नदी की सीमा होती है उसके दो तट; किन्तु क्या वे तट ही नदी रूप हैं, अथवा उन तटों में ही क्या नदी की यथार्थता है ? क्या पानी के बहाव को बांधने वाले ये तट ही नदी को आगे बहने में सहायता नहीं देते ?

संसार के प्रवाह की भी मर्यादायें हैं, किनारे हैं। उनके बिना इसका अस्तित्व ही न होता; किन्तु संसार का अर्थ इसकी अवरोधक मर्यादाओं में नहीं बल्कि उस गति में है जो पूर्णता की ओर हो रही है। संसार का चमत्कार यह नहीं है कि यहां कष्ट और बाधायें है बल्कि इसमें है कि यहां व्यवस्था, सौन्दर्य, आनन्द, कल्याण और प्रेम का वास है। सब से बड़ा चमत्कार है इस कल्पना में कि मनुष्य में ईश्वर का वास है। मनुष्य ने अपने जीवन की गहराई में यह अनुभव किया

है कि जो अपूर्ण प्रतीत होता है वह पूर्ण का ही प्रस्फुटन है, विकसित होते रूप का प्रदर्शन है; जैसे किसी राग की जुदा-जुदा सरगम में कोई सङ्गीतप्रिय व्यक्ति विकसित होते हुए राग की पूर्णता को अनुभव करता है। मनुष्य ने अपनी अनुभूति से इस पहेली का अर्थ समझ लिया है कि जो सीमित है वह सीमाओं में ही बंधा हुआ नहीं है; उस में गति है जो प्रतिक्षण उन बन्धनों को तोड़ती जाती है। सच यह है कि अपूर्णता का अभिप्राय, पूर्णता से निषेध का नहीं है; सीमितता असीमता की विरोधिनी नहीं है। वस्तुतः, अपूर्णता में भी वस्तु के विभिन्न भागों में पूर्णता और सीमितता में भी सीमित टुकड़ों में असीमता रहती है।

दुख हमारे जीवन का स्थायी भाग नहीं है। आनन्द की तरह यह हमारे जीवन का ध्येय नहीं है। दुख उठाते हुए भी हम यह जानते हैं कि जगत् के स्थायित्व में दुख का महत्त्व नहीं है। वह उस भूल की तरह है जो बुद्धिमान् के जीवन में भी होती है। विज्ञान का इतिहास भी भूलों से खाली नहीं किन्तु विज्ञान को इन भूलों की कड़ियों से निर्मित नहीं मान सकते। विज्ञान के इतिहास में स्मरणीय वस्तु सदा विकासशील सत्य की अभिप्राप्ति है, न कि उसकी अनगिनत भूलें। स्वभावतः भूल स्थायी नहीं होती; सत्य के साथ सदा नहीं रह सकती, एक मुसाफिर की तरह उसे उस सराय से तुरन्त निकलना पड़ेगा जैसे ही वह पूरा मूल्य नहीं चुका पायगा।

जिस तरह विचार-जगत की भूलों और बुराइयों में स्वाभाविक अस्थायीपन है, उस तरह अन्य बुराइयों में भी है। अस्थायीपन इसकी प्रकृति है, क्योंकि यह उस वस्तु के साथ समभाव से नहीं रह सकती। प्रतिक्षण उस वस्तु का सम्पूर्ण व्यक्तित्व इसके साथ संघर्ष करके इसके बदलने में व्यस्त रहता है। हम दोष को स्थिर मानकर इसका महत्त्व

बढ़ा देते हैं। किन्तु सच यह है कि बुराई का रूप सदा मिटता-बदलता रहता है; अपने व्यापक से व्यापक रूप में भी यह हमारे जीवन के प्रवाह को सफलतापूर्वक अवरुद्ध नहीं कर सकती; इतने अवरोध होते हुए भी पृथ्वी, पानी और आकाश में सदा मधुर संजीवन बना रहता है। बुराई को मापने के लिए हम जिस गणना-शैली का उपक्रम करते हैं वह दोषपूर्ण है। इस उपक्रम में गणनीय वस्तुओं का जो महत्त्व हमारे मस्तिष्कमें बन जाता है वह सच्चा नहीं होता। वह आंशिक ही होता है। एक जासूस को जब अपराधों की खोज का अवसर मिलता है तो उस मामले को ही जीवन-मरण का प्रश्न समझ लेता है; उस मामले की सम्पूर्ण सामाजिक व्यवस्था में कितनी महत्ता है, यह उसकी कल्पना में नहीं आता। विज्ञान जब प्राणी जगत् के जीवन-संघर्ष को चित्रित करता है तो यही दीखता है कि प्रकृति में खूनी दांतों और जबड़ों का ही प्राधान्य है। इन चित्रों के रंगों को स्थायी समझना, जब कि ये रंग काफूर होने वाले हैं, भारी भूल है। यह हवा के उस भार को तोलने के सदृश है जो हमारे शरीर के प्रत्येक वर्ग इंच पर होता है और उस भार से शरीर के कुचले जानेकी कल्पना करना है। हर भार के साथ उसे वहन करने की व्यवस्था भी प्रकृतिदत्त है, जिससे हम उस भार को बहुत हल्के पन से वहन करते हैं। प्रकृति में जीवन-संघर्ष के साथ जीवनदायी शक्तियां भी है। संघर्ष के साथ प्रेम और आत्मत्याग भी है, जो नये जीवन को देता है।

यदि हम अपने दृष्टि-रूपी प्रकाश-क्षेपक-यन्त्रकी रोशनी मृत्यु के रूप पर केन्द्रित करदें तो सारा जगत् एक विशाल वधस्थल प्रतीत होगा। किन्तु, सच यह है कि जीवन की यात्रा करते हुए मृत्यु की कल्पना हमें बहुत कम प्रभावित व विचलित करती है। यह इसलिये ” होता कि मृत्यु बहुत अस्पष्ट है किन्तु इसलिये कि यह जीवन

का निषेधात्मक रूप है; उसी तरह इसकी गणना नहीं होती जिस तरह देखने के समय पलक झपकने की गणना नहीं होती, देखने को ही महत्त्व दिया जाता है।

जीवन, अपने पूर्ण रूप में, मृत्यु को महत्त्व नहीं देता। मृत्यु के सामने भी वह हंसता, खेलता और नाचता है, निर्माण व संग्रह करने में अन्तिम क्षण तक लगा रहता है। मृत्यु को जीवन से अलग करके जब हम देखते हैं तभी हम इसके भयानक रूप से डरते हैं। तब हम उस जीवन के सम्पूर्ण रूप को अगोचर कर देते हैं, जिसका मृत्यु एक अंश मात्र है। यह देखना, कपड़े के एक टुकड़े को सूक्ष्म वीक्षण से देखने के तुल्य भूल है। इस यन्त्र से देखने पर वह टुकड़ा एक बड़े छिद्रों वाली जाली सा दीखता है; हम उन छिद्रों पर नज़र गड़ा देते हैं और चौंक जाते हैं किन्तु सचाई यह है कि ये छिद्र ही कपड़ा नहीं हैं; मृत्यु ही जीवन की सचाई नहीं है। यह जाली उसी तरह दीखती है जैसे आकाश नीला दीखता है। नीला आकाश पक्षियों के पंखों को नीला नहीं करता उसी तरह मृत्यु हमारे जीवन को अपने रंग से नहीं रंगती।

जब हम किसी शिशु को चलने की कोशिश में देखते हैं तो कितनी ही बार गिरते-पड़ते देखते हैं; चल तो वह दो कदम ही पाता है। इस निरीक्षण को यदि हम समय के तंग दायरे में बांध दें तो यह दृश्य बड़ा कारुणिक होगा। किन्तु, हम देखते हैं कि बारंबार की असफलता के बाद भी बच्चे में आनन्द भरा उत्साह रहता है जो उसे इस असंभव-सा प्रतीत होने वाले काम में लगाये रहता है। बच्चा अपने बारंबार गिरने को भूल कर केवल अपनी कामयाबी को ही—जो उसे थोड़ी सी देर संभल कर दो क़दम चलने में हुई है—याद करके किलकारियां मारने लगता है।

बच्चे के चलना सीखने की कोशिशों के समान जीवन की अन्य चेष्टाओं में भी हमें कष्टों का अनुभव होता है। प्रतिदिन हमें अपने ज्ञान, सामर्थ्य और उनके इच्छापूर्वक प्रयोग की योग्यता में भारी अपूर्णता प्रदर्शित करने वाली घटनाओं में से गुजरना पड़ता है। किन्तु यदि ये घटनायें केवल हमारे सामने हमारी असमर्थताओं का ही चित्रण करें तो हम गहरी निराशा में डूब कर मर जाएं। अपने कार्यों के सीमित क्षेत्र को ही निरीक्षण का विषय बनाने पर हमारी व्यक्तिगत दुर्बलतायें और दुखभरी अनुभूतियां हमारे मन को घेर लेती हैं। किन्तु हमारा जीवन स्वयमेव हमें प्रेरित करता है कि हम व्यापक दृष्टिकोण से उन घटनाओं को देखें। यही प्रेरणा है जो हमें वर्त्त-मान सीमाओं से उठकर देखने योग्य पूर्णता का आदर्श बतलाती है, हमें अपने अन्तर में ही आशा का वह दीप मिल जाता है जो सदा हमारे वर्त्तमान के संकीर्ण अनुभवों से आगे रहकर, हमें वर्त्तमान की सीमाओं से बाहिर ले जाता है; यह है हमारे अन्तर में रहने वाले असीम के प्रति हमारी अमर आस्था; यह हमारी भूलों व अयोग्यताओं को कभी स्थायी सत्य नहीं मानती; यह अपने कार्यक्षेत्र की कोई सीमा नहीं बांधती; यही आस्था है जो मनुष्य और ईश्वर में एकात्मता मानती है और जिसके सुन्दर स्वप्न प्रतिदिन सच्चे होते दीखते हैं।

असीम की ओर ज्ञानदृष्टि मोड़ने पर ही हम सत्य को देखते हैं। सत्य का स्थान संकीर्ण वर्त्तमान में नहीं है; हमारे तत्कालिक भोगों में नहीं है। वह तो उस चेतना में है जो हमें अपनी अधिकृत वस्तुओं में अपने ध्येय का आभास देती है। जाने या अनजाने में, हमें जीवन में सत्य की ऐसी प्रतीति होती रहती है कि वह दृश्यमान रूप से अधिक विस्तृत है; कारण कि हमारा जीवन सदा विस्तीर्ण के सामने रहता है और उसी ओर गतिशील रहता है।

इसीलिये हमारे जीवन की आकांक्षायें अपनी उपलब्धियों से असीमित, विस्तीर्ण रहती हैं, और अपनी यात्रा में आगे बढ़ते हुए उसे कभी यह अनुभव नहीं होता कि सत्य के बोध के बाद वह चरमता की सीमाओं से घिरे मरुस्थल में भटक गया है। यह बोध उसे और आगे की मंजिल पर ले जाता है। कोई भी बुराई किसी भी चौराहे पर जीवन की गति को बांध कर नहीं रख सकती और ना ही जीवन को उसकी विभूतियों से रिक्त कर सकती है क्योंकि बुराई ने गुज़र जाना है, भलाई में बदल कर बढ़ना है, अतः वह वहीं मोर्चा बनाकर सबसे युद्ध नहीं कर सकती। यदि कोई छोटी से छोटी बुराई भी स्थिर रूप से कहीं जड़ें जमाले, तो वह स्वयं गहरे में जाकर अपनी जड़ें काटती है। मनुष्य बुराई में उसी तरह विश्वास नहीं करता जिस तरह वह यह नहीं मानता कि किसी भी अत्यन्त बेसुरी वीणा का उद्देश्य ही विसंवादी स्वरों के प्रलाप से दूसरों को संताप पहुंचाना हो सकता है। यद्यपि गणना से यह स्पष्ट हो सकता है कि संसार में समता की अपेक्षा असमता अधिक है और एक स्वर-साधक के पीछे हजारों कर्कश स्वर में बजाने वाले व्यक्ति विद्यमान हैं, फिर भी मनुष्य को वीणा के उद्देश्य में कभी सन्देह नहीं हुआ। वह प्रत्यक्ष के विषम अनुभव से भविष्य को नहीं मापता। भविष्य की पूर्णता-समर्थक सम्भावनायें वर्त्तमान की अपूर्णता को ढांप लेती हैं।

निःसन्देह ऐसे व्यक्ति हैं जो जीवन के अस्तित्व को ही अभिशाप मानते हैं। किन्तु मनुष्य इन निराशावादियों पर कान नहीं देता। उनकी निराशा के पीछे उनकी भावना या बुद्धि के विपर्यय का कोई न कोई कारण छिपा होता है। जीवन स्वयं आशावादी है। वह सदा आगे बढ़ता है। निराशा मानसिक रोग का एक रूप है, इसे

स्वास्थ्यप्रद भोजन से अरुचि है, और वैराग्य की तीव्र मदिरा का अभ्यास है। निराशा ऐसी अस्वाभाविक उदासी को जन्म दे देती है जो बहुत तेज़ शराब की प्यासी रहती है। जीवन यदि अभिशाप होता तो किसी विचारक के कहने से नहीं—स्वयं ही प्रगट हो जाता। इसे अभिशप्त कहना किसी स्वस्थ, सुन्दर व्यक्ति पर व्यर्थ ही आत्मघात का अपराध लगाना है। जीवन का अस्तित्व ही अपनी बुराई के आरोप का खण्डन कर रहा है।

जो अपूर्णता, अपूर्णतामात्र न होकर पूर्णता के आदर्श के साथ है वह सदा अनुभूति के मार्ग पर बढ़ रही है। हमारी बुद्धि का यह कार्य है कि वह असत्य में से सत्य का बोध करे, अपूर्णता में से पूर्णता की अनुभूति करे। भूलों का निरन्तर जलते रहकर सत्य के प्रकाश को मुक्त करना ही ज्ञान है। हमारी धारणा, हमारे चरित्र को सदा दुरित भावनाओं से युद्ध करके पूर्णता पानी पड़ती है--हमारे आन्तरिक जीवन में, बाह्य जीवन में या दोनों ही में। हमारी प्राणाग्नि जीवन की शिखा को दीप्त रखने के लिये प्रतिक्षण बाह्य शरीर के तत्त्वों को जला रही है; इसी तरह हमारे नैतिक जीवन की दीप्ति के लिये भी समिधायें हैं। यह यज्ञ--जीवन का क्रम—चल रहा है, मने इसका साक्षात् किया है; और इसे देखकर हमने यह विश्वास थर किया है कि मानव की गति अकल्याण से कल्याण की ओर है। ोंकि हम यह अनुभव करते हैं कि कल्याण मनुष्य की प्रकृति का ावात्मक तत्त्व है जो प्रत्येक युग में प्रत्येक देश में, मानव का आदर्श रहा है।

आप पूछेंगे, कल्याण क्या है; हमारी नैतिक प्रकृति से क्या हैं? मेरा उत्तर है: जब मनुष्य अपना विस्तृत रूप देखने

लगता है, जब उसे यह बोध होने लगता है कि वह वर्त्तमान में प्रतीत होने वाले रूप से विशाल है तब वह अपनी नैतिक वृत्तियों का ज्ञान पाने लगता है, तब वह अपने भावी अस्तित्व की झलक लेता है और उसका आजतक छिपा रूप उसके वर्त्तमान रूप से अधिक सत्य प्रतीत होने लगता है। स्वभावतः उसकी बोध-शक्ति में परिवर्त्तन हो जाता है और उसकी कामनायें, आत्म-शक्ति में बदल जाती हैं। क्योंकि आत्म-शक्ति ही उसके विस्तृत जीवन की कामना है; उस जीवन की जो हमारे वर्त्तमान की परिधि से दूर है, और जिसके अधिक अंश हमारी दृष्टि से ओझल रहते हैं। तब हमारे संकीर्ण व्यक्तित्व का विस्तृत व्यक्तित्व से संघर्ष होता है; हमारी कामनाओं का आत्म-शक्ति से और इन्द्रियगम्य भोगों का हमारे अन्तःकरण की प्रवृत्तियों से संघर्ष होता है। तभी हम तत्कालिक आनन्द देने वाली वासना और कल्याणमयी वृत्तियों में भेद करने लगते हैं। क्योंकि कल्याण वह है जो हमारे विशाल व्यक्तित्व के लिये कल्याण कर हो। इस तरह कल्याण का विवेक हमें जीवन के अधिक सच्चे दर्शन द्वारा प्राप्त होता है। इस दर्शन में वर्त्तमान ही नहीं भविष्य के उस रूप का दर्शन भी है जो हमारी साधारण दृष्टि के लिये परोक्ष में रहता है और जिसका प्रत्यक्ष देखना मानव के लिये सम्भव ही नहीं है। मनुष्य, उस अवस्था में उस तिरोहित जीवन को वर्त्तमान में प्राप्त जीवन की अपेक्षा अधिक अनुभव करने लगता है इसलिये वह अपनी वर्त्तमान वासनाओं को अदृश्य भविष्य के लिये अर्पण करने को तैयार हो जाता है। इसी अर्पण में वह महान् बनता है, क्योंकि इसी द्वारा वह सत्य का अनुभव करता है। स्वार्थ की सफल पूर्त्ति के लिये मनुष्य को इस सत्य का आश्रय लेना पड़ता है और अपने क्षणिक आवेशों का संयम करना पड़ता है—

दूसरे शब्दों में नैतिक व सदाचारी होना पड़ता है। क्योंकि हमारी नैतिक शक्ति वह शक्ति है जो हमें यह जताती है कि जीवन टुकड़ों में बटा हुआ नहीं है, और यह कि जीवन निरुद्देश्य या अनेक असंगतियों का मिश्रण भी नहीं है। मनुष्य की यही नैतिक चेतना है जो उसे यह जानने की योग्यता भी देती है कि मनुष्यकी आत्मा काल भेद होने पर भी एक रस रहती है और यह भी कि मनुष्य स्वार्थ की परिधि में बंधकर अपना व्यक्तित्व खो देता है। मनुष्य वास्तविकता में उतनी अनुकूलता अनुभव नहीं करता जितनी कि अदृश्य सत्य में। वह उन आत्माओं का संगी है—जो उसके व्यक्तित्व से दूर की हैं, जिनके साथ उसका साक्षात् शायद सम्भव ही नहीं है। जिस तरह मनुष्य को अपने भविष्यमें बनने वाले व्यक्तित्व का एक आभास सा रहता है उसी तरह उसे अपने व्यापक व्यक्तित्त्व का भी आभास रहता है। ऐसा कोई भी नहीं होगा जिसे यह प्रतीति न हो, या जिसने अपने स्वार्थों का किसी दूसरे के हित में कभी त्याग न किया हो, या केवल दूसरे की प्रसन्नता के लिये स्वयं हानि या कष्ट न उठाये हों। सच यह है कि मनुष्य विश्व से निर्लिप्त नहीं हो सकता; उसका व्यापक रूप भीहै; और जब उसे जान लेता है तो वह महान होजाता है। अधमसे अधम स्वार्थी भी तब इस बात को स्वीकार कर लेता है जब वह अधम कार्य के लिये शक्ति संग्रह करता है; क्योंकि वह सत्य की उपेक्षा करके शक्ति का संग्रह नहीं कर सकता। अतः सत्य की सहायता का अधिकारी बनने के लिये ही स्वार्थ को कुछ हद तक निःस्वार्थ बनना पड़ता है। डाकुओं के दल भी परस्पर सहयोग को दृढ़ बनाने के लिये नैतिक सचाइयों का आश्रय लेंगे, वे चाहे दुनिया को लूटेंगे, ठगेंगे पर आपस में सच्चे रहेंगे। अनैतिक कार्यों को पूरा करने के लिये

भी कुछ नैतिक हथियारों की सहायता आवश्यक हो जाती है। और सच तो यह है कि बहुत अवसरों पर हम अपने चरित्र बल से ही पाप के काम सफलता से पूरा कर पाते हैं; अपने स्वार्थों के लिये दूसरों को ठग पाते हैं, उनके अधिकारों को कुचलकर अपना प्रभुत्व जमाते हैं। पशु का जीवन चरित्र-हीन होता है क्योंकि उसे केवल तत्कालिक आवश्यकताओं की पूर्त्ति करनी होती है; मनुष्य का जीवन चरित्र-हीन नहीं चरित्र भ्रष्ट होता है, जिसका अर्थ यह है कि उसका आधार चरित्र ही होगा। दुश्चरित्र का अर्थ चरित्र की अपूर्णता से है, जैसे झूठ का अर्थ सत्य की आंशिक अपूर्णता से है। जिस तरह कोई भी सत्य आंशिक सत्य है उसी तरह कोई भी झूठ आंशिक झूठ होगा। देखने की अक्षमता होना अन्धा होना है, किन्तु ठीक ढंग से न देख पाना, देखने के ढंग की अपूर्णता है। यह दृष्टि का दोष नहीं बल्कि दर्शन-प्रकार का दोष है। मनुष्य के स्वार्थभाव का प्रारम्भ तभी होता है जब वह जीवन का कोई प्रयोजन देखने लगता है किन्तु उस प्रयोजन को पूरा करने के लिये उसे आत्मसंयम व चरित्र बल की आवश्यकता पड़ती है। स्वार्थी मनुष्य भी स्वेच्छा से कष्ट उठाता है, क्योंकि उसे मालूम है कि यह कष्ट अल्पकाल को दृष्टि से ही कष्ट है, भविष्य की विस्तृत दृष्टि से देखने पर यह कष्ट ही ला[illegible] में बदल जायगा। इसीलिये अल्प दृष्टि वाले के लिये जो हानि है व[illegible] विशाल दृष्टि मनुष्य का लाभ हो जाता है।

जो व्यक्ति देश, व मानव मात्र के कल्याण के लिये जीता [illegible] उसके जीवन का प्रयोजन बहुत व्यापक होजाता है, वह अपने म[illegible] के कष्टों को कुछ नहीं मानता। कल्याणमय जीवन बिताना स[illegible] लिये जीना है। सुख से अपने अकेले का सम्बन्ध है किन्तु [illegible]

मानव मात्र के सुख का सम्बन्ध है। कल्याण की भावना के साथ सुख-दुख के अर्थ भी बदल जाते हैं; इतने अधिक कि मनुष्य सुख छोड़ कर दुख को गले लगाता है, मृत्यु तक का स्वागत करने लगता है, यदि वह जीवन की कल्याण साधना में सहायक हो। मनुष्य जीवन की ये ऊंची भावनायें जगत् के सुख, दुख और लाभ हानि के अर्थों को बिलकुल बदल देती हैं। शहीदों का इतिहास और हमारे नित्य के जीवन की छोटी-छोटी शहादतें यही सिद्ध करती हैं। जब हम समुद्र से एक गागर भरकर उठाते हैं तो वह भार बन जाता है किन्तु जब हम समुद्र में गोता लगाते हैं, हजारों गागरों का पानी हमारे ऊपर से गुजर जाता है और हम हल्के ही रहते हैं। इसी तरह स्वार्थ-जगत में अपने ही स्वार्थों की गागर उठाने पर हमें अपने सुख-दुख भारी लगते हैं किन्तु निःस्वार्थ जगत् में वही सुख-दुख इतने हल्के होजाते हैं कि निःस्वार्थी मनुष्य जगत् के बड़े से बड़े संघर्षों में हँसता-खेलता कल्याण-पथ पर आगे बढ़ जाता है। निराशा कभी उसके उत्साह को मन्द नहीं बनाती और कार्यासक्यता उसके धैर्य को चंचल नहीं बनाती।

पूर्ण कल्याण में जीना, असीम में अपने जीवन की अनुभूति पाना है। जीवन का यह बहुत ही व्यापक अर्थ है जिसे हम आत्मिक दृष्टि से जीवन की पूर्णता को अनुभव करते व देखते हुए ही समझ [illegible]ते हैं। बुद्ध ने इसी आत्मिक दृष्टि को सबल बनाने का उपदेश [illegible] था, ईसा के स्वर्गीय जीवन की भी यही दृष्टि है। जब हम इस [illegible]क जीवन को, जो हमारा आत्मिक जीवन भी है, पा लेते हैं तो [illegible] दुख के बन्धनों से मुक्त हो जाते हैं और यह 'अहं' द्वारा खाली [illegible]या गया स्थान अनिर्वचनीय आनन्द से, जो अनन्त प्रेम से पैदा [illegible]ता है, भर जाता है। तब आत्मा की शक्तियां और भी प्रखर हो

जाती हैं, उनकी प्रेरक भावना वासनायें नहीं बल्कि स्वान्तःसुख ही होता है। यही गीता का कर्मयोग है। यही 'निष्काम कर्मों द्वारा विश्व के कार्यशील जगत् से एकात्म स्थापित करने का उपाय है।

बुद्ध ने जब मनुष्य को दुखों से मुक्त करने की साधना की थी तो वह भी इसी सत्य पर पहुंचे थे कि व्यक्तित्व को विश्वात्मामें विलीन करने के बाद ही मनुष्य अपना चरम लक्ष्य पाता है, तभी उसे दुखं से निर्वाण मिलता है।

एक बार मेरे एक विद्यार्थी ने आंधी के उपद्रव से तंग आकर मुझे कहा कि उसे यह बात बड़ा मानसिक कष्ट दे रही थी कि प्रकृति ने आंधी के समय उसके साथ ऐसा व्यवहार किया था, मानों वह मुट्ठी भर मिट्टी का पुतला हो। उसने यह भी कहा, मैं अपनी बाह्य परिस्थितियों से प्रभावित नहीं होता, क्योंकि मेरा अपना अलग व्यक्तित्व है।

मैंने उत्तर दिया—यदि हमारी व्यक्तिगत स्थिति का ध्यान रखकर प्रकृति अपने मार्ग से हट जाय तो व्यक्तियों को ही अधिक हानि होगी।

किन्तु उसका समाधान नहीं हुआ। वह कहता रहा कि मैं अपने 'सोऽहं' का भाव नहीं भूल सकता। यह 'अहं' अपना महत्त्व अप[illegible] व्यक्तित्व में ही खोजता है।

मैंने कहा कि इस अहं का सम्बन्ध उससे भी है जो 'अहं' है। अतः हमें एक ऐसा मध्यस्थ चाहिये जो दोनों पक्षों का एक[illegible] आत्मीय हो। जिस पर यह विश्वास किया जा सके कि वह 'सो[illegible] और 'नाहं', दोनों को एक दृष्टि से देखता है।

वही बात मैं यहां दोहराता हूं। हमें याद रखना चाहिये कि स्वभाव से ही हमारा व्यक्तित्व विशाल विश्व में एकता की इच्छा रखता है। हमारी आंखों का कुछ प्रयोजन ही नहीं है, यदि वह केवल स्वयं को देख सकें।

हमारा व्यक्तित्व जितना शक्तिशाली होगा उतने ही बल से वह ... की विशालता की ओर खिंचेगा। क्योंकि उसकी शक्ति ...न्द्र स्वयं उसमें नहीं बल्कि विश्व में है; उसी तरह जैसे झील की ...राई पृथ्वी में खुदी हुई खाई से नहीं मापी जाती, पानी की सतह से मापी जाती है।

इसलिये, यदि यह सच है कि हमारी प्रकृति का परितोष वास्तविकता की प्राप्ति में है और वह अपनी कल्पित रचनाओं में ही सन्तुष्ट नहीं होती तो प्रकृति के लिये यही सब से अच्छा है कि वह उन वस्तुओं से उनके स्वभावसिद्ध नियमों के अनुसार ही व्यवहार करे। इस कठोर सत्य के कारण कभी २ हमें कष्ट उठाना पड़ेगा—उसी तरह जिस तरह पृथ्वी की कठोरता से पृथ्वी पर चलना सीखने वाले बच्चे को बारंबार गिर कर, चोट खाकर उठना पड़ता है तो भी उसे समझना चाहिये कि यह कठोरता ही पृथ्वी का ऐसा गुण है ...ो बच्चे को चलना सीखने में सहायता देता है।

एक बार की बात है। पुल के नीचे से जाती हुई मेरी नाव का ... पुल की शहतीर में उलझ गया। यदि एक क्षण के लिये भी ...नी पीठ ऊपर को उठा लेता, जैसे जभाई लेती हुई बिल्ली ...; या मेरा मस्तूल ही नीचे झुक सकता तो मामला सुलझ ...। किन्तु दोनों ने मेरी कठिनाई पर ध्यान नहीं दिया। दोनों ... स्थिति पर दृढ़ रहे। यह दृढ़ता उस समय अखरी किन्तु जब

यह सोचा कि इस दृढ़ता के कारण ही हम पुल का उपयोग कर सकते हैं और मस्तूल पर भरोसा कर सकते हैं तब मुझे सन्तोष हुआ। वस्तुएं जैसी हैं वैसी रहेंगी, उनका उपयोग करने के लिये उनकी स्थिर प्रकृति का ज्ञान करना हमारा कर्त्तव्य है। उनके स्वभाव में स्थिरता न हो तो उनका ज्ञान संभव ही नहीं होता। हम उसे ह कारण जान पाते हैं कि हमारी इच्छायें ही उनका संचालन करतीं। उनके अपने नियम हैं, और वे स्थिर नियम हैं। तभी ह ज्ञान भी स्थिर होता है। इस ज्ञान में आनन्द है। ज्ञान द्वारा ही ह बाह्य वस्तुओं से अपना सम्बन्ध बनाते हैं; उन्हें आत्मीय बनाते हैं, और इस तरह अपनी आत्मा की सीमाओं को विशालता देते हैं।

जीवन के हर कदम पर हमें अपने से बाहिर की वस्तुओं का ध्यान रखना पड़ता है। केवल मृत्यु में ही हम अकेले होते हैं। कवि तभी कवि है जब वह अपनी व्यक्तिगत भावनाओं को सब के लिये आनन्ददायी रूप दे सके; ऐसा वह नहीं कर सकता यदि श्रोताओं में कोई ऐसी मध्यस्थ एकता न पा सके जो सब में विद्यमान हो। यह उन सबकी भाषा होनी चाहिये। कवि का कार्य है कि वह उस भाषा को पहिचाने। तभी उसका काव्य अमरता प्राप्त करेगा।

मनुष्य का व्यक्तित्व ही सब से ऊँचा सत्य नहीं है; उसमें ... भी ऊँची एक सत्ता है जो सम्पूर्ण विश्व से सम्बन्ध रखती है ... उसे ऐसी जगह रहना पड़े जहां वह अपने सिवा किसी के सम्प... आये तो वह उसके लिये भयंकर कारागार हो जाय, क्योंकि ... का मन अपनी गहराई में सदा सब से युक्त होकर, महान् सं... होने की कल्पनायें किया करता है, यही उसका प्रगाढ़तम आनन्... यदि सब में एक ही नियम काम न कर रहे हों तो यह ...

य। उन नियमों के ज्ञान व अनुसरण द्वारा ही हम महान बनते विश्व का अनुभव करते हैं। और इसके विपरीत अगर हमारी क्तिगत इच्छायें विश्व-नियमों की प्रतिगामिनी हों तो हम दुख का क्षुद्रता का अनुभव करते हैं।

एक समय था जब हम प्रकृति के नियमों को अपने से जुदा .ते थे। किन्तु अब यह जान गये हैं कि वे भी हमारे ही हैं। विश्व प्रकृति की शक्ति हमारी अपनी शक्ति है। विज्ञान की सहायता से ं प्रकृति के नियमों का ज्ञान अधिक हो गया है अतः हम अधिक क्तिशाली हो गये हैं; विश्वशक्ति से हमारी समीपता बढ़ गई है; ारी दृष्टि शक्ति, हमारी सभी ऐन्द्रिक शक्तियां विश्वव्यापी क्षेत्र फैल गई हैं। वाष्प और विद्युत् हमारी नाड़ियां और मांसलपिन्ड गये हैं। जैसे शरीर के गठन में परस्पर अंगों का ऐसा सामंजस्य कि हम सम्पूर्ण शरीर को अपना कह सकते हैं, उसी तरह विश्व के न से भी हमारा ऐसा सम्बन्ध बन जाता है कि सारा संसार हमें ने ही देह का व्यापक रूप दिखाई देता है। ऐसा प्रतीत होता है री क्षुद्र कमज़ोरियों का कारण केवल यह है कि हम इस वे को अनुभव करने की योग्यता से वंचित हैं। सच तो ारी शक्तियों का कोई अन्त नहीं—क्योंकि हम विश्व- से जो विश्व के नियमों का ही प्रगट रूप है, बाहिर े हमें विश्वात्मा को उसके भौतिक रूप में देखने का दिया है। इसीलिये हम दुख, दरिद्र्य, रोग और ने का उद्योग कर रहे हैं। इस उद्योग में हमने ख, रोग और दरिद्रता आदि सब का निदान ात्मा का विश्वात्मा से समभाव स्थापित

नहीं हो पाना ही है।

यही स्थिति हमारे अध्यात्म जीवन पर भी चरितार्थ होती है। जब हमारे अन्तर का व्यक्ति, मनुष्य के विश्व-व्यक्तित्व से विद्रोह करता है तो हम क्षुद्र हो जाते हैं और कष्ट उठाते हैं। इस स्थि में हमारी सफलतायें ही हमारी असफलताओं में बदल जाती हैं अपनी वासनाओं की तृप्ति ही हमें प्यासा और लाचार बना देती हम अपने लिये विशेष पुरस्कार पाने की भूख जगा लेते हैं—ऐ पुरस्कार जो हमारे अपने ही हों, जिनका कोई भागीदार न हो। कि हम भूल जाते हैं कि प्रत्येक विशेषता का सामान्यता से निरन्तर युद्ध चलता रहता है। इस निरन्तर युद्ध की अवस्था में मनु सदा मोर्चेबन्दियों या खन्दकों के पीछे छिपा रहता है; उसके वास्तविक घर नहीं रहते बल्कि अप्राकृतिक दीवारों से घिरे दुर्ग जाते हैं। तब भी हम शिकायत करते हैं कि हम सुखी क्यों नहीं; मा संसार की प्रत्येक वस्तु हमारे विरुद्ध षड्यन्त्र रचे हुए हो। विश्व आत्मा हमें सुख का ताज पहिनाने के लिये उत्सुक है, किन्तु हम व्यक्ति बद्ध आत्मा उसे स्वीकार नहीं करती। वह सब जगह विद्रो विषमता के बीज बोती है और समाज की साधारण संतुलित व्यवस् में रुकावट डाल कर दुखों का कारण बनती है।

अपने जीवन से मनुष्य को सब से बड़ी शिक्षा यह लेनी कि संसार में दुख है किन्तु उसे सुख में बदलना उ में है एक दिन एक गरीब मजदूर स्त्री ने मुझ से यह शिक कि उसका बड़ा लड़का कुछ देर के लिये एक धनी रिश्ते भेजा जा रहा है। उसे यह अनुभव करके बड़ा मानसिक था कि उसे एक कष्ट से छुटकारा दिया जा रहा है उसका अपना स्वत्व है, उसे अपने स्वत्व से वंचित

स्वत्व कष्ट के ही रूप में था, उसके लिये असह्य हो गया। मनुष्य अपने कष्ट से छुटकारा पाने में नहीं बल्कि अपने कल्याण के लिये कष्ट उठाने में अधिक आनन्द अनुभव करता है। उसके आनन्द की वृद्धि में कष्ट भी कारण बन जाता है। कष्ट में आनन्द की यह अनुभूति तभी संभव है यदि हमारे अन्तर में एक ऐसी विश्वात्मा विराजमान हो जो मृत्यु और कष्ट से भयभीत न होती हो और जो जानती हो कि आनन्द का ही दूसरा पहलू कष्ट है। इस ज्ञान को ज्ञानी जानता है कि कष्ट भी हमारी सच्ची सम्पत्ति है, यह एक ऐसी अपूर्णता है जो हमें पूर्णता के समकक्ष बैठने की योग्यता देती है। वह जानता है कि हम भिखारी नहीं हैं; और जीवन की हर मूल्यवान वस्तु के बदले में ठोस सिक्का देना पड़ता है। कष्ट उठाना अपनी शक्ति, बुद्धिमत्ता और प्रेम का मूल्य देना है। और यह कि कष्ट में पूर्णता को, आनन्द के विकास की असीम सम्भावनायें लाक्षणिक रूप से पड़ती हैं। हां, जब हम कष्टों को केवल स्वार्थ-साधना में काम लाते हैं तो हम उसका तिरस्कार करके उसे बुरा बनाने की स्वयं आयोजना करते हैं। इस अपमान का बदला हमें दुख रूप में मिलता है।

४ : व्यक्तित्व की सार्थकता

मेरे व्यक्तित्व के एक पार्श्व का विश्व की वस्तुओं से समभाव है। यहां मुझे विश्वव्यापक विधानों के नियम मानने पड़ते हैं। मेरे अस्तित्व की नींव इसी क्षेत्र में बहुत गहरी रखी हुई है। इसकी दृढ़ता का आधार व्यापक विश्व की मज़बूत पकड़ और अन्य सब वस्तुओं के साथ पूर्ण समता बनाये रखना ही है।

किन्तु मेरे व्यक्तित्व का दूसरा पार्श्व यह है कि मैं सब से अलग अकेला अकेला हूँ। सबके साथ बांधने वाली समता का जाल तोड़ कर खड़ा हूँ। मैं वहां सर्वथा अद्वितीय हूँ; मैं मैं ही हूँ और सबसे अतुल्य हूँ। वहां विश्व का समस्त भार भी मेरे व्यक्तित्व को कुचल नहीं सकता। विश्व की चुम्बकीय शक्तियों के आकर्षण की अवहेलना करता हुआ भी मैं खड़ा हूँ। देखने में यह 'मैं' छोटा सा है किन्तु वस्तुतः यह बहुत बड़ा है। क्योंकि, यह अपने व्यक्तित्व को धूल में मिला देने वाली प्रत्येक शक्ति के विरोध में अकेला खड़ा है।

यही आत्मा का वह भवन है जो अज्ञात रूप से गहरी अंधे[illegible] नींव पर अकेला बना है और जिसे अपने अकेलेपन पर गर्व है, अ[illegible] अभिमान है कि उसने अपने निर्माता की एक ऐसी कल्पना को स[illegible] किया है जिसकी कोई दूसरी तुलना नहीं है। इस अतुलनीय[illegible]

रने से कोई भौतिक हानि नहीं होगी, एक कण भी नष्ट नहीं होगा, न्तु जो रचनात्मक आनन्द इस व्यक्तित्व में मूर्त्त रूप से समाया आ है वह नष्ट होजायगा। इसके विनाश से हम बहुत दरिद्र हो ायंगे, क्योंकि यही एक वस्तु है जिसे हम केवल अपना कह सकते हैं; सकी हानि हमारी ही नहीं सम्पूर्ण विश्व की हानि होगी। विश्व का एक अंश न होने के कारण इसका मूल्य बहुत बढ़ गया है। इसके ारा ही हम विश्व को पाते हैं, इस प्राप्ति में जो आनन्द है वह हमें भी न मिलता यदि यह अपने व्यक्तित्व को खोकर विश्व के ही अंश प से उसमें समाया होता।

इस व्यक्तित्व की अद्वितीयता को मनुष्य कितना मूल्यवान सम- ता है इसका अनुमान इससे ही हो सकता कि वह इस व्यक्तित्व की ा के लिये कितने कष्ट उठाता है, कितने ही पाप भी करता है। से अलग व्यक्तित्व बनाने के लिये वह मृत्यु को भी निमन्त्रण देता यह व्यक्तित्व उसे उस स्वर्ग से भी अधिक प्रिय होजाता है जहां सकी आत्मा प्रकृति की गोद में उसकी अहंकारजन्य चेष्टाओं से नभिज्ञ सोयी रहती है।

अपने व्यक्तित्व की अद्वितीयता स्थिर रखने के लिये हमें निरन्तर उठाने पड़ते हैं, निरन्तर यत्न करना पड़ता है। ये कष्ट ही उसका य निर्धारण करते हैं। इस मूल्य का एक पार्श्व वह बलिदान है जो के व्यय का अंकन करता है। दूसरा पार्श्व वह उपलब्धि है जो भ को अंकित करती है। व्यक्तित्व का अर्थ यदि केवल कष्ट और ही होता तो इसका हमारे लिये कुछ भी मूल्य न होता और बलिदान करने को कभी तैयार न होते।

किये गये बलिदान इसे और भी कीमती बना देते हैं,

जिन्होंने इस व्यक्तित्व को उपलब्ध करके इसके वरदानों का उपयोग किया है और इसके उत्तरदायित्वों को बड़ी तत्परता से अपनाया है या बड़ी उत्सुकता से इसके लिये कष्ट उठाये हैं वे ही इसके मूल्य की साक्षी देते हैं। उनका स्वानुभव हमारे कथन को पुष्ट करता है।

उपर्युक्त प्रस्तावना के बाद मुझे अपने श्रोताओं द्वारा पूछे गये इस प्रश्न का उत्तर देना सरल हो जायगा कि क्या 'अहं' को, खुदी को, मिटाना ही भारतीय विचारकों का अन्तिम ध्येय नहीं रहा ?

इसका उत्तर देने से पूर्व मैं एक बात कहूँगा। वह यह कि मनुष्य अपने विचारों को प्रगट करने में कभी केवल शब्दाश्रयी नहीं होता। मात्र शब्द उसके भावों को व्यक्त ही नहीं करते। प्रायः यही होता है कि वे शब्द उसकी भाषा न बनकर केवल गूंगे की भाव-भंगियों के समान चेष्टा मात्र रह जाते हैं। उनसे उसके भावों का संकेतमात्र मिल सकता है, विचारों की अभिव्यक्ति नहीं मिलती। ये विचार जितने ही महत्त्वपूर्ण होंगे उतनी ही यह सम्भावना होगी कि शब्दों द्वारा उन्हें प्रगट नहीं किया जा सकेगा। इस अभिव्यक्ति के लिये उन शब्दों को विचारक के जीवन की छाया में देखना पड़ेगा। जीवन की संगति में उनका सच्चा अर्थ जानना होगा। शब्दकोष की सहायता से अर्थज्ञान पाने वाले अन्वेषक अर्थ की बाह्यपरिधि तक ही पहुंच पायेंगे, अन्तर का द्वार उन्हें बन्द ही मिलेगा। यही कारण है कि हमारे ऋषियों के सूत्र रूप से कहे ग वाक्यों की भिन्न २ व्याख्यायें हैं। हमने उनके शब्दों का अनुशील किया है, उन्हें अपने जीवन में अनुभव करने का यत्न नहीं कि ऐसे अभिशप्त शब्दज्ञानियों का हाल उस मछियारे का सा जो मछली पकड़ना छोड़ कर अपने जाल की उधेड़-बुन

रहते हैं।

केवल भारतीय धर्मों या बुद्ध धर्म में ही इस आत्म-त्याग का महत्त्व नहीं माना गया है, ईसाई धर्म में भी इसके गौरव की चर्चा है। यहां तक कि जीवन से मुक्ति पाने की सफलता के लिये मृत्यु के चिह्न को लाक्षणिक मान लिया गया। यही निर्वाण है, जो जीवन-दीप के बुझने का उपलक्षण है।

भारतीय विचारक यह मानते हैं कि मनुष्य की सच्ची मुक्ति अविद्या से मुक्ति पाना है। मुक्ति का अर्थ किसी विद्यमान वस्तु का विनाश करना नहीं है, बल्कि केवल अविद्यमान और सत्य मार्ग के अवरोधक कोहरे का निवारण करना है। जब अविद्या का यह अवरोध हट जाता है तभी पलकें ऊपर उठ जाती हैं—पलकों का हटना आंखों की क्षति नहीं कहा जा सकता।

यह हमारा अज्ञान ही है जो हमें यह बताता है कि हमारा 'अहं' अहं रूप में ही वास्तविक और पूर्ण है। इस भ्रमपूर्ण ज्ञान से ही हम इस 'अहंभाव' की पूर्त्ति को जीवन का चरम ध्येय मान बैठते हैं। तभी हमें उस मनुष्य की तरह, जो रास्ते की मिट्टी को पकड़ कर मंजिल तक पहुंचने की इच्छा करता है, निराशा होती है। हमारे 'अहं' के पास ऐसे कोई साधन नहीं हैं जो हमें पकड़ सकें, उसका स्वभाव ही रास्ते पर चलना है। जब मनुष्य बड़े यत्न से अपने भोग के सामान जुटाता है तो वह ऐसी आग सुलगा लेता है जो स्वयं को जला कर राख बनाती है। उसके पास इस आग पर सेकने को रोटी का आटा नहीं होता। वह भी उस पशु की तरह जो स्वयं अपने अंग खाकर तृप्त [illegible] है, अपनी हत्या आप करता है और अपने हाथों अपनी चिता [illegible]यं भस्म होता है।

जिस भाषाका पूरा ज्ञान न हो उसके शब्द बड़े क्रूर एवं अवरोधक हो जाते हैं। वे केवल रुकावट डालते हैं और कहते कुछ नहीं। शब्दों के इस जंजाल से छुटकारा पाने के लिए हमें पहले अविद्या से मुक्ति पानी होगी तभी हमारा मन शब्दों के अर्थ में स्वतन्त्रतापूर्वक विचरण कर सकेगा। शब्दों के नष्ट करने से हमें यह स्वतन्त्रता नहीं मिलेगी। जब असली ज्ञान होता है तो शब्द अपने स्थान पर स्थित रहते हैं, हमें अपनी जंजीर में जकड़ते नहीं और हमें न केवल स्वेच्छा से अपने रास्ते पर जाने देते हैं बल्कि अभ्युदय के मार्ग पर ले भी चलते हैं।

इस तरह हमने देखा कि अविद्या ही है जो 'अहं' के ही चरम ध्येय होने का मिथ्या ज्ञान देकर उसे हमारा बन्धन बना देती है। यही अविद्या है जो हमें 'अहं' में तिरोहित उस विचार को अनुभव करने से रोकती है, जो अपनी परिधि में सीमित नहीं रह सकता। तभी विचारशील व्यक्ति कहते हैं "अविद्या से मुक्त बनो; आत्मा को पहचानो और अपने 'अहं' की गिरफ्तारी से भी बचो।"

जब हम अपनी प्रकृति में आते हैं तभी हमें अपनी स्वतन्त्रता मिलती है। कलाकार को जब कला का ध्येय मिल जाता है तभी उसे कलात्मक स्वतन्त्रता प्राप्त होती है। तभी वह नकल करने के कठोर परिश्रम से और प्रशंसा की प्रेरणाओं से मुक्ति पाकर कला का निर्माण करता है। इसी तरह धर्म का यह कार्य है कि वह हमारी प्रकृति को नष्ट न करे, बल्कि उसके अभावों की पूर्त्ति मात्र करे।

अंग्रेजी के शब्द रिलीजन Religion को संस्कृत में धर्म कहते हैं। किन्तु इस शब्द से धर्म शब्द का अर्थ व्यापक है। धर्म ... वस्तुओं की आन्तरिक प्रकृति, सार-वस्तु और अनश्वर सत्य

धर्म ही हमारी आंतरिक दुनिया का अन्तिम ध्येय है। किसी भी दुष्कार्य के होने पर हम कह उठते हैं; हमारे धर्म को भ्रष्ट कर दिया, इसका अर्थ यही है कि हमारी सच्ची प्रकृति के विरुद्ध कार्य हो गया।

यह धर्म कई बार इतना अस्पष्ट हो जाता है कि उसका स्वरूप दीखता ही नहीं और लोग यह विश्वास करने लगते हैं कि पाप करना मनुष्य की प्रकृति है। 'केवल कुछ ईश्वरेच्छाओं के आधार पर, उसकी दया से ही मनुष्य को पाप से मुक्ति मिल सकती है'—यह कथन ऐसा ही है जैसे कोई कहे कि बीज की प्रकृति अपने खोल में बन्द रहना है, कोई चमत्कार ही उसे वृक्ष बनने को अंकुरित कर सकता है। किन्तु क्या बीज का स्वरूप ही इस धारणा को मिथ्या नहीं बना देता?

जब बीज का रासायनिक विश्लेषण करें तो उसमें कार्बन व प्रोटीन के तत्व मिलते हैं, वृक्षरूप में अंकुरित होने की प्रकृति का कोई प्रमाण नहीं मिलता। उसका ज्ञान तभी होता है जब बीज अंकुर के रूप में फूटता है। यही बीज का धर्म है। यही इसका प्रयोजन है।

मनुष्य के प्रयोजन का प्रमाण भी जब तक उनका धर्म महा-पुरुषों के महत्कार्यों में अंकुरित न हो जाय, नहीं मिलता। बहुसंख्यक मनुष्यों के निष्फल रहने का अर्थ भी यह नहीं है मनुष्य प्रकृति निर्बीज है। किन्तु यह मनुष्य का दायित्व है कि वह अपने आवरण को फोड़ कर बाहिर निकले और ज्ञान के प्रकाश व वायु में विकास पाकर सब ओर पल्लवित और पुष्पित हो।

बीज की स्वतन्त्रता का अर्थ है उसे वृक्ष बनने के धर्म की पूर्ति स्वतन्त्रता। अपूर्ति ही कारावास है। जिस बलिदान से वस्तु अपने धर्म की पूर्ति करती है वह वैसा बलिदान नहीं है जो मृत्यु की ओर

ले जाता है। वह तो बन्धनों के आवरण हटाकर स्वतन्त्रता प्राप्त करना है; स्वधर्म के पालन की स्वतन्त्रता।

जब हमें मनुष्य की स्वाधीनता के सबसे ऊँचे आदर्श का ज्ञान हो जाता है तो हमें धर्म का, उसकी प्रकृति का, या उसके अस्तित्व के वास्तविक प्रयोजन का ही ज्ञान हो जाता है।

हम अपने 'अहं' को दो रूपों में देख सकते हैं। एक वह, जो स्वयं को प्रदर्शित करता है; दूसरा वह जो प्रकाश का प्रतिक्षेप करते हुए अपने प्रयोजन का स्वयं उद्घाटन करता है। प्रदर्शन करने में वह महान् बनने का यत्न करता है, अपने संचित स्वत्वों के अंबार पर खड़ा होकर ऊँचा बनने की कोशिश करता है। इसके विपरीत दूसरा स्वयं को प्रकाशित करने में स्वत्वों का त्याग करता है और कली से फूटकर खिले फूल की तरह विकास में ही पूर्णता प्राप्त करता है।

बुझा दीपक अपने तेल को सुरक्षित रखता है, वह उसे अन्य सब चीज़ों से दूर अपनी दीवारों में एक कृपण की तरह संभाल कर रखता है। किन्तु, चिनगारी लगते ही वह अपना प्रयोजन समझ जाता है। वह एक क्षण में ही दूर-पास की सब चीजों से सम्पर्क बना लेता है और दीपशिखा को प्रज्वलित रखने के लिए बड़ी उदारता से अपने पात्र में संचित तेल का प्रदान करता है।

हमारी आत्मा का 'दीपक' भी कुछ ऐसा ही है। जब तक वह अपनी विभूतियों को समेट कर संचित करता रहता है तब तक वह बुझा रहता है। प्रदीप्त होते ही यही दीपक अपनी सीमायें भूल जाता है, अग्निशिखा को ऊँची रखता है, अपनी सीमा की हर वस्तु को जगमगा देता है। इसी कार्य में इसके व्यक्तित्व का, धर्म का या इसके चरित्र का उद्घाटन होता है। बुद्ध ने इसी आत्मोद्घाटन की स्वतन्त्रता

का प्रचार किया था। उसने प्रकाश की बत्ती को अपने तेल का दान कर देने को कहा था। किन्तु इस प्रकार प्रयोजन-रहित त्याग में अन्धेरे याग का वास है। बुद्ध ऐसा कभी नहीं कह सकता। दीपक को प्रकाश के प्रयोजन से ही तेल का दान करना है और इस तरह जो येय उसके संग्रह में सीमित था उसे स्वतन्त्र बनाना है। यह वास्त-विक अभ्युत्थान है बुद्ध का मार्ग केवल आत्मविसर्जन के अपनाने का नहीं है बल्कि प्रेम द्वारा आत्मा को विशाल बनाने का है। इसी में बुद्ध के प्रवचनों का सच्चा अर्थ छिपा है।

जब हमें यह मालूम होता है कि बुद्ध द्वारा व्याख्यात निर्वाण मार्ग प्रेम का ही मार्ग है तो हमें निश्चय हो जाता है कि निर्वाण प्रेम की ही पूर्णता में है। प्रेम स्वयं अपना ध्येय है। अन्य वस्तुओं में हेतु का संशय बना रहता है; 'क्यों' का प्रश्न होता है किन्तु प्रेम में 'क्यों' का स्थान नहीं; प्रेम स्वयं अपना उत्तर है।

निःसन्देह स्वार्थ भी त्याग की अपेक्षा रखता है। किन्तु स्वार्थी त बाधित होकर ही त्याग करता है। प्रेम में त्याग स्वेच्छा से होता है। वहां त्याग में भी आनन्द है। हमारे स्वत्व हमारे शरीर के अंग बन जाते हैं। उन्हें अलग करते हुए दुख होता है। किन्तु हम प्रेमाधीन होते हैं तो वह आसक्ति स्वयं शिथिल हो जाती है। पके हुए फलों का त्याग करते समय वृक्ष को, या बच्चे को दूध पिलाते हुए मां को, जिस तरह कष्ट नहीं होता उसी तरह हमें भी कष्ट नहीं होता। इस देने में ही आत्मिक तृप्ति मिलती है। मानो यही हमारी प्रकृति है।

इस तरह हम पूर्ण प्रेम में ही आत्मा की स्वाधीन प्रकृति को पाते हैं। प्रेम में जो किया जाता है वही पूर्ण स्वाधीनता से किया जाता है चाहे ही वह कितना ही कष्टप्रद प्रतीत होता हो। इसलिए

प्रेम हित कार्य करना ही स्वतन्त्र कार्य करना है। गीता के निष्काम कर्म का भी यही अर्थ है।

गीता का कथन है कि कर्म करना आवश्यक है क्योंकि कर्म द्वारा ही हम अपनी प्रकृति का प्रदर्शन करते हैं। किन्तु यह प्रदर्शन अपूर्ण है, यदि वह कर्म स्वतन्त्र कर्म नहीं है। भय या वासना-प्रेरित कर्म, स्वतन्त्र कर्म नहीं कहलाते। ऐसे कर्मों में हमारी प्रकृति प्रकट नहीं होती। मां अपने बच्चों के हित काम करने में अपनी प्रकृति का प्रदर्शन करती है। वही काम स्वतन्त्र भावना से होता है। उसमें न वासना है, न भय।

ईश्वर अपनी रचना में प्रगट होता है। उपनिषदों का कथन है कि ज्ञान, शक्ति और कर्म उसके स्वाभाविक गुण हैं;[१] किसी बाह्य प्रेरणा से उनका उद्भव नहीं होता। अतः उसके कर्म में ही स्वतंत्रता है और अपनी रचना में ही वह स्वयम् को प्रगट करता है। इसी सत्य को उपनिषदों के अन्य शब्दों में कहा है: आनन्द से ही यह जगत् बना है, आनन्द ही इन्हें जीवित रखता है, आनन्द की ओर ही इनकी गति है और आनन्द में ही इनका अन्तिम विलय है।[२] अभिप्राय यह कि ईश्वर की रचना का आधार केवल आनन्द है; उसका प्रेम ही इसकी रचना करता है इसलिये यह रचना उसी के स्वरूप की छाया है।

अपनी कलात्मक कल्पना में आनन्द लेने वाला कलाकार उस कल्पना को रूप दे देता है और उसे अपने से वियुक्त रखकर और

---

[१] स्वाभाविकी ज्ञान बल क्रियाश्च।

[२] आनन्दाद्ध्येव खल्विमानि भूतानि जायन्ते, आनन्देन जात जीवन्ति, आनन्दं प्रयान्त्यभिसंविशन्ति।

ो अधिक पा लेता है। इस वियुक्ति का आधार प्रेम होता है, घृणा
हीं। घृणा में केवल एक वियोग का तत्व ही रहता है, प्रेम में वियोग
ार मिलन दोनों रहते हैं। प्रेम का वियोग भी मिलन के अर्थ होता
—सचाई मिलन में ही होती है।

इसी तरह हमें जानना चाहिये कि हमारे 'अहं' का अर्थ ईश्वर
वियुक्त होने में नहीं, बल्कि मिलन में है। यह मिलन चित्र के
: की शून्यता की ओर नहीं बल्कि परदे के उस पार्श्व में होना
हिये जिधर चित्रकार चित्र बनाता है।

इसीलिये हमारी प्रभु से वियुक्त अवस्था को दर्शनकारों ने
ा', केवल प्रवंचना कहा है। कारण कि इसमें आन्तरिक वास्त-
ा नहीं है। यह अवस्था विनाशक है; यह इस वियोग को बहुत
लकाय बना देती है और विश्व के अस्तित्व पर काली छाया सी
ाती है। बाहर से यह भीषण विस्फोटक, विद्रोही और विध्वंस-
ालूम होती है। इसमें गर्व है और आधिपत्य की भावना है।
पनी क्षणिक तृप्ति के लिये दुनिया को लूटती है; यह सौन्दर्य भरे
क्षी के पंखों को क्रूरता से नोच कर अपनी कुरूपता को क्षण
लिये छिपाने का उद्योग करती है। किन्तु यह सब माया है,
ा का आवरण है; एक कोहरा सा है, एक धूंआ सा है जिसने
ी ज्योति को ढक रखा है।

कल्पना कीजिये, एक मूर्ख दैत्य को यह प्रतीत होगया कि कागज़
ां में ही वह जादू है जो मनचाही चीज़ें दिलाता है। वह इन
ो जमा करता है, छिपाता है और उन पर नाचता है। किन्तु
इन कागज़ी नोटों का प्रयोग न जानने के कारण, यह नतीजा
ै कि ये नोट बेकार हैं, आग लगा देने लायक हैं। वह

उन्हें आग लगा देता है। समझदार आदमी इन कागज़ी नोटों क
असली अर्थ जानता है। वह जानता है कि ये कागज़ तबतक माया
मात्र हैं जबतक इन्हें बैंक में देकर धन न लिया जाय। इसी तरह यह हमारी
अविद्या है जो पहले हमारे प्रभु से वियुक्त रूप को ही मूल्यवान समझ
लेती है और बाद में उसे रद्दी कागज़ की तरह नष्ट करने को तैयार
हो जाती है। अविद्या का आवरण दूर होने पर ही हमारा यह रूप
असली स्वरूप में आता है। इस स्वरूप में भी ब्रह्म का स्वरूप है।
क्योंकि वह अपने को अनेक अमृत रूपों में प्रगट करता है[१]। ये रूप
उससे भिन्न हैं। उन रूपों का भी वही मूल्य है जो उन्हें प्रभु
स्वयम् दिया है।

जब केवल कोई परवशता ही मनुष्य से काम करवाती है तो
किसी दुर्घटना की तरह अस्थायी और थोड़े काल के कार्यवा
प्रबन्ध की तरह क्षणिक प्रभाव वाली होती है। मजबूरी की
बदलने के साथ ही इसे मृत वस्तुओं की तरह छोड़ दिया जाता
किन्तु जब कार्य स्वान्तःसुखाय हो तो इसमें अमरता आजाती
मनुष्य का अन्तर-निवासी इस पर अपनी अमरता की छाप
देता है।

प्रभु ने अपने आनन्द के लिये हमारी रचना की।
हमारी आत्मा में उसके आनन्द का ही रूप प्रतिबिम्बित हुआ
उस पर अमरता की छाप है। प्रभुका आनन्द भी अमृत है: 'आ
रूपममृतं यद्विभाति'। यही कारण है कि मृत्यु को नि
रूपसे सामने जानकर भी हम मृत्युभय से मुक्त रहते हैं।
स्पर विरोधी शक्तियों के बीच एक समान वृत्ति रखते
सत्य पर पहुंचते हैं कि इन दोनों—मृत्यु और

[१] आनन्दरूपममृतं यद्विभाति।

ुमता है। आत्मा के सीमित जीवन को असीम की प्राप्ति के लिये
जिस राह से जाना पड़ता है वह मृत्यु के द्वार में से गुज़रता है।
मृत्यु एकरस है; इसमें जीवन नहीं है! किन्तु जीवन में द्वित्व है;
ाया और सत्य दोनों रूपों में यह रहता है। मृत्यु ही छाया है;
ही वह माया है जो जीवन की अटूट साथी है। हमारी आत्मा को
कास और परिवर्त्तन की अनेक सदाप्रवाही नहरों में से गुज़र
जाना पड़ता है; इसी को प्रवहमान जीवन या प्रवहमान मृत्यु
सकते हैं। इस प्रवाह को कोई भी नाम दे सकते हैं। जब हम
ानी आत्मा में विकास की प्रेरणा नहीं पाते, प्रवाह की गति मन्द
देते हैं, तब हमारा प्रभु हमें मृत्यु का संकेत देता है; हम मर
े हैं, उसी तरह जैसे दिन के प्रकाश में दीपक बुझा दिया
ा है।

हमारे व्यक्तित्व में दो प्रकार की कामनायें सदा वास करती
में उनमें समता लाने का यत्न करते रहना चाहिए। अपनी
क प्रकृति से सम्बद्ध कामनाओं को हम सदा अनुभव करते हैं।
ापने भोजन से तृप्ति चाहते हैं और शारीरिक भोगों के पीछे
हैं। भोग की यह कामना प्रायः हमारी पाचक शक्ति के
ा दौड़ती है।

दूसरे प्रकार की कामानयें वे हैं जो हमारे समस्त देह की
क हैं, जिनसे हम प्रायः अनभिज्ञ से रहते हैं। यह कामना
ा की है। यह भी सदा जागरूक रहकर नये सुधार, नयी व्यवस्था
टनाओं के समय नये उपचारों का काम करती रहती है।
बड़ी कुशलता से शरीर के सन्तुलन को व्यवस्थित रखती है।
ालिक भोगेच्छाओं से इसका कोई सम्बन्ध नहीं।
है। यह जीवन को उसके भूतकाल और भविष्य

से सम्बद्ध रखती है और शरीर के भिन्न अवयवों की समता भी स्थिर रखती है। बुद्धिमान आदमी इसे पहचानते हैं और अपनी अन्य शारीरिक इच्छाओं को इसके अनुकूल बनाने का यत्न करते रहते हैं।

हमारा एक व्यापक शरीर भी है— सामाजिक शरीर। समाज भी एक शरीर के समान है जिसके अवयव रूप से भी हम व्यक्तिगत कामनायें करते हैं। हम अपने सुख की भी चाह करते हैं। हम सबसे कम मूल्य में सबसे अधिक प्राप्ति की इच्छा भी रखते हैं। इससे परस्पर संघर्ष होता है। उपद्रव होते हैं। किन्तु हमा भीतर एक और कामना है जो हमारे सामाजिक व्यक्तित्व की गह में निवास करती है वह है समाज के कल्याण की कामना। यह व्यक्ति और वर्त्तमान की क्षणिक भोग-कामना की सीमा के बाहर देख है। यही कामना हमें असीम की ओर लेजाती है।

जो मनुष्य अपनी भोगेच्छा को सामाजिक कल्याण अनुकूल बनाने का यत्न करेगा वही अपनी विराट् आत्मा साक्षात कर सकेगा।

हमारी भौतिक प्रवृत्तियों का लक्ष्य स्वास्थ्य तथा सामाजिक वृत्ति का कल्याण और हमारी आत्मा का लक्ष्य प्रेम है। यह अन्ति ही वह लक्ष्य है जिसे बुद्ध ने निर्वाण कहा है--स्वार्थ से निर्वाण यह प्रेम की साधना है। प्रेम प्रकाश की ओर ले जाता है प्रे का प्रकाश ही हमारे अन्तर में असीम की आनन्दमय ज्योति दीपक जलाता है।

प्रत्येक व्यक्ति को अपने व्यक्तित्व में से, जो स्वतन्त्र कर ही आत्मा तक पहुंचना है। यह मार्ग किसी बाह्य प्रेरणा से नहीं बल्कि व्यक्ति की आंतरिक प्रेरण

सम्भव है। यह भी सम्भावना है कि व्यक्ति की स्वतन्त्र इच्छा या आंतरिक प्रेरणा उसे अपने अन्तिम लक्ष्य से विपरीत दिशा की ओर ले चले। किन्तु यह गति देर तक नहीं रहेगी। वह अनन्त दूरी तक उल्टे रास्ते पर नहीं चल सकेगी। वह रास्ता ही अनन्त नहीं है उसका शीघ्र ही अन्त हो जायगा। हमारी इच्छा की स्वतन्त्रता का उद्देश्य उसे कल्याण व प्रेम के मार्ग पर लेजाना है। यह मार्ग असीम की ओर ले जाता है और व्यक्तिगत स्वतन्त्रता इसी मार्ग में अपनी पूर्णता प्राप्त कर सकती है। असीम की प्राप्ति के मार्ग में ही चलने को वह स्वतन्त्र है। वह स्वतन्त्रता के मूलभूत आधार का उल्लंघन करके स्वतन्त्र नहीं रह सकती। यह स्वयं आत्मघात करके जीवित नहीं रह सकती। हम यह दावा नहीं कर सकते कि हमें अबाध स्वतन्त्रता मिलनी चाहिये, स्वयं को जंजीरों में बांधने की। कारण, कि जंजीरें स्वतन्त्रता का अन्त कर देती हैं। इस तरह की मांग ही निराधार है।

हमारी व्यक्तिगत स्वतन्त्रता में भी द्वित्व का, माया और सत्य दोनों का वास है। व्यक्तिगत इच्छा माया है और प्रेम सत्य है। जब हम अपनी इच्छा को प्रेम-रहित कर देते हैं तो दुःख पैदा होता है। हर वस्तु, माया और सत्य के द्वित्व से पूर्ण है। शब्द माया है जब वह केवल ध्वनि है; वही सत्य है जब वह विचार से पूर्ण होता है। हमारा व्यक्तित्व माया है जब वह केवल अस्तित्व है, वही सत्य है जब उसमें विराट् आत्मा की अमरता प्रतिबिम्बित होती है। ईसा को भी यही अभिप्रेत था जब उसे कहा था कि "अब्राहम से पहले भी 'अहं' था। यह अनादि 'अहं' ही है जो मेरे भीतर के 'अहं' में बोलता है।" यह व्यक्तिगत 'अहं' जब असीम के विराट् 'अहं' का अनुभव कर लेता है तो पूर्णता को प्राप्त कर लेता

है। तभी इसे माया से मुक्ति मिलती है; उस माया से जो अविद्या से पैदा हुई है। माया से मुक्ति पाकर ही वह 'शांतं, शिवं अद्वैतम्' रूप को; सत्य में पूर्ण विश्रांति, कल्याण में कार्यशीलता और प्रेम में पूर्ण मिलन की स्थिति को प्राप्त करता है।

हमारे व्यक्ति में ही नहीं, प्रकृति में भी विराट आत्मा से पृथक्त्व है, जिसे हमारे दर्शनकारों ने 'माया' कहा है। यह पृथक्त्व अपने ही आधार पर नहीं रहता और विराट आत्मा की असीमता को बांधता भी नहीं है है। जो बन्धन विद्यमान हैं विधाता ने उन्हें अपनी इच्छा से बनाया है। अपनी शक्तियों को उसने अपनी इच्छा से ही नियमों में बांधा है। शतरंज के खिलाड़ी अपने मोहरों की चाल अपनी इच्छा से बांध लेते हैं। तभी वह खेल चलता है। यदि वे इन मोहरों की चालें न बांधें तो खेल चल ही नहीं सकता। ईश्वर भी यदि अपनी शक्तियों को स्वच्छन्द कर दे तो सृष्टि का अन्त हो जाय, उसकी शक्तियों का कुछ प्रयोजन ही न रहे। कोई भी शक्ति तभी तक शक्ति है जब तक वह सीमा में बंधी है। ईश्वर की जल शक्ति को जल रूप में ही रहना है, पृथ्वी को पृथ्वी के रूप में ही स्थिर रहना है। जिस नियम से उसने इन शक्तियों को जुदा-जुदा रूप दिये हैं वे नियम स्वयं उसके हैं। उन नियमों ने ही खेल को खिलाड़ी से जुदा किया हुआ है क्योंकि खिलाड़ी का आनन्द इसी में है।

जिस तरह नियमों की सीमा ने प्रकृति को परमात्मा से अलग किया हुआ है, उसी तरह अहंकार की सीमा ने हमें ईश्वर से अलग किया हुआ है। ईश्वर ने अपनी शक्तियों के शासन को सीमि[illegible] करके हमें अपनी छोटी सी दुनियां में स्वतन्त्र कार्य करने का स्वा[illegible] दिया है; उसी तरह जिस तरह पिता अपनी सम्पत्ति के [illegible]

ुत्र को दायित्व देता है। इसका आधार प्रेम ही होता है।
लिये यह स्वतन्त्र होती है। पुत्र को स्वतन्त्रता देकर ही पिता दो
न्त्र आत्माओं के मिलन का आनन्द उठा सकता है। अत्या-
ी अपने दासों को स्वार्थ-सिद्धि का उपकरण मात्र समझता है।
स्वार्थ-पूर्त्ति को अन्तिम रूप से सुरक्षित करने के लिये दासों की
त्रता को नष्ट कर देता है। उसका स्वार्थ दूसरे में स्वतन्त्रता का
भी सहन नहीं कर सकता, कारण कि वह अत्याचारी स्वयं
त्र नहीं होता। वस्तुतः वह अपने दासों का ही दास बन जाता
इसलिए उनके पूर्णतः उपयोग के लिए उन्हें अपनी इच्छा के
न करने की कोशिश करता रहता है।

किन्तु प्रेम के अनुशासन में यह नहीं होता। प्रेम दो स्वतन्त्र
ाओं के मिलन में ही पूर्णता अनुभव करता है। इसलिए
त्मा की इच्छा से ही हमें वह स्वतन्त्रता मिली है जो संसार में
कार्य करते हुए भी विश्वात्मा में मिल कर ही पूर्णता प्राप्त
ा यत्न करती रहती है। परमात्मा से वियुक्त होने के बाद
तन्त्र रूप से जीवन यात्रा करती है—किन्तु यह यात्रा अनन्त
ाक नहीं चल सकती। वह बार बार अपने लक्ष्य असीम की
स्थान करती है। हमारे व्यक्तित्व को बार बार अपनी आयु
ते को बदलना पड़ता है जिससे वह अमर यौवन को पा
उसे जगत की आधारभूत एकता के संस्पर्श में प्रतिक्षण
ड़ता है, जिससे उसका वियोग उसके सौंदर्य और शक्ति में
ा होता रहे।

ीवन और मृत्यु का यह खेल सब जगह हो रहा है। पुरातन
ीनता में रूपान्तरित होना सब जगह दीखता है। हर नया
च्छ, श्वेत नई खिली-कली की तरह उदित होता है। किन्तु

हम जानते हैं कि वह पुराना है। वह स्वयं पुरातनता की मूर्त्ति है। यह वही प्राचीन दिन है जिसने नवजात पृथ्वी का अपनी भुजाओं में आलिंगन किया था, उसे अपने प्रकाश से भर दिया था और फिर उसे नक्षत्र-लोक की यात्रा के लिये भेज दिया था।

फिर भी इसके पैरों में थकान नहीं है और आंखों में धुंधलापन नहीं है। इसके पास अनादि शक्ति का वह अक्षय स्वर्णीय पारसी है जिसके स्पर्श से सृष्टि के माथे की झुर्रियां साफ हो जाती हैं। संसार के हृदय में ही अमर यौवन का वास है। मृत्यु और रोग उस पर क्षणिक छाया-सी बन कर आते हैं और गुज़र जाते हैं; वे इस पर कोई पद-चिन्ह नहीं छोड़ जाते। इसका सत्य सदा नूतन औ जवान बना रहता है।

यह दिन हर सुबह बार बार नया जन्म लेता है। यह संगीत स्वर-ताल की तरह बार बार लौट कर सम पर आ जाता है। यदि इसकी गति सीधी रेखा में आगे ही आगे होती, यदि यह अन्धकार में गोता लगाकर विराम न पाता और पुनः अनन्त आरम्भ के जीवन में पुनर्जीवन न लेता तो यह धीरे-धीरे अपने अनन्त मार्ग की धूल में सत्य को भी दफ़ना देता और अपने भारी पद-चिन्हों के ऊपर इतनी मिट्टी बिछाता जाता कि सत्य सदा के लिये छिप जाता। तब प्रत्येक क्षण समय पर अपने थकान का भार छोड़ जाता और इस अनन्त मृत्तिकामय राज्य के सिंहासन पर केवल निराश और थकान का ही आधिपत्य होता।

किन्तु, अब प्रत्येक दिन नये खिले-फूलों के साथ नया जन्म लेकर आशा और आश्वासन के संदेशों को पुनर्जीवित कर जात है। वह नई भावनाओं के साथ कहता जाता है कि मृत्यु क्षणि है; अशान्ति की लहरें केवल सतह पर हैं; शान्ति के समुद्र की

थाह नहीं। रात के परदे हटते ही, सत्य अपनी पोषाक पर धूलि का एक भी कण लिये बिना और अपने चेहरे पर बुढ़ापे की एक भी रेखा के बिना प्रगट होता है।

और, हम देखते हैं कि उसका जो रूप सदियों पूर्व था वही अब भी है। सृष्टि के संगीत का प्रत्येक स्वर नये रूप में उसके मुख से निकलता है। यह विश्व केवल ऐसी ध्वनि नहीं है जो आकाश के एक छोर से दूसरे छोर तक निराधार घूम रही है और जो उस पुराने गीत का अवशेष है जिसे सृष्टि के धुंधले-से आरम्भ में गाया गया था। यह वह ध्वनि है जो प्रतिक्षण विधाता के हृदय से निकल रही है; उसकी साँसों का साँस बनी हुई है।

इसी कारण यह उस कल्पना की तरह जो कविता में समूर्त्त हो रही होती है, आकाश में छाजाता है और कभी अपने संग्रह-भार से बोझल नहीं होता। इसीलिये इसके इतने विविध रूप हैं। जैसे प्रारम्भ में थे वैसे ही अब हैं। प्रारम्भ का भी कोई अन्त नहीं। संसार सदा पुराना और सदा नया रहता है।

यह हमारा कर्त्तव्य है कि हम यह जानें कि वह अपने जीवन के प्रत्येक क्षण में नया जन्म लेता है। यह अपने उन सब आच्छादनों को जो इसे मृत्यु-भार से भारी और वृद्ध बनाते हैं, तोड़ कर मिट्टी में मिला देता है।

जीवन एक अमर जवानी है; इसे उस आयु से नफरत है जो इसकी गति में बाधक हो; जो दीपक की छाया की तरह जीवन का पीछा करती हो।

हमारा जीवन नदी की लहरों की तरह अपने तट से छूता है, इसलिये नहीं कि वह अपनी सीमाओं का बन्धन अनुभव करे बल्कि इसलिये कि वह प्रतिक्षण यह अनुभूति लेता रहे कि उसका अनन्त

मार्ग समुद्र की ओर खुला है। जीवन ऐसी कविता है जो छन्दों के कठोर अनुशासन में चुप नहीं होती बल्कि इससे अपनी आन्तरिक स्वतन्त्रता और समता को और भी अधिक प्रगट करती है।

हमारे व्यक्तित्व की सीमान्त दीवारें हमें अपनी सीमा की ओर भी धकेलती है और इसी तरह हमें असीम की ओर भी लेजाती है। केवल, जब हम इन सीमाओं को असीम बनाने की कोशिश करते हैं तभी हम परस्पर विरोधी भावनाओं में संघर्ष पाते हैं और तभी हमें दुःख उठाना पड़ता है।

मानवीय इतिहास में यही परिस्थिति महान क्रान्ति को जन्म देती है। जब कोई पुर्जा सम्पूर्ण को छोड़कर अपना अलग रास्ता ढूंढ़ता है तो सब वस्तुओं का सम्मिलित प्रभाव उसे झकझोर देता है और उसे मिट्टी में मिला देता है। जब कभी कोई एक व्यक्ति संसार की शक्तियों की सदा बहती धारा को रोकने खड़ा होता है और उन्हें केवल अपने उपयोग में लाने के मनोरथ बांधता है तो परिणाम सर्वनाश ही होता है। कोई भी कितना ही शक्तिशाली हो, वह असीम शक्ति से विद्रोह करके देर तक शक्तिशाली नहीं रह सकता।

कहा गया है कि कई बार अधर्म कर्म करने वाला भी फलता फूलता है, मनोरथ पूर्ण करता है, अपने शत्रुओं को जीतता है; किन्तु अन्त में उसकी जड़ खोखली होजाती है, उसका विनाश होजाता है[1]। हमारी जड़ें विश्व की गहराई में जानी चाहियें, यदि हम महान् व्यक्तित्व की कामना करते हैं।

---

(१) अधर्मेनैधतेतावत्, ततो भद्राणि पश्यति।
ततः सपत्नान् जयति, समूलस्तु विनश्यति॥

हमारे अहं का यह ध्येय है कि हम विश्वात्मा से मिलन की साधना करें। हमें प्रेम से सिर नवा कर वहां खड़ा होना चाहिये जहां छोटे-बड़े सब मिलते हैं। हमें अपनी हानि में से ही लाभ उठाना है और अपने बलिदान में ही उत्थान पाना। हमारा व्यक्तित्व और हमारा अहंकार हमारे लिये अभिशाप है यदि हम प्रेम के आधीन होकर भी उनका अर्पण न कर सके। हमें जानना चाहिये कि हममें केवल असीम का प्रस्फुटन ही ऐसा है जो सदा सुन्दर और नया रहता है और जो हमारे व्यक्तित्व को सार्थक बनाता है।

५ : प्रेम साधना से प्रभु प्राप्ति

अब हम इस गहन समस्या पर विचार करते हैं कि जीवात्मा और आत्मा किस तरह साथ-साथ रहते हैं। इस सहवास के मूल में एक अलौकिक पहेली काम कर रही है। वह यह कि हम इस समस्या रूपीवृत्त के चारों ओर परिक्रमा करने में असमर्थ हैं, कारण कि हम स्वयं इस वृत्त के भीतर खड़े हैं। हम कभी भी इसके बाहिर रह कर इसका माप तोल नहीं कर सकते।

यह समस्या केवल तर्क के लिये है, वस्तुतः यह हमारे जीवन में कोई कठिनाई उपस्थित नहीं करती। तर्क की भाषा में यह कहना ठीक होगा कि दो बिन्दुओं के मध्यस्थान की दूरी को, चाहे वह कितनी ही छोटी हो, असीमित कहना चाहिये। क्योंकि इसे भी असीमित रूप से विभक्त किया जा सकता है। किंतु हम इस असीम की सीमा को हर कदम पर लांघते हैं और प्रतिक्षण अनादि अनन्त से भेंट करते हैं। इसीलिये हमारे दर्शनकारों ने यह मत प्रगट किया है कि सीमित वस्तु है ही नहीं; वह केवल माया है, भ्रान्ति है। वास्तविकता असीम में है; यह केवल माया है, अवास्तविक है जो देखने में सीमित मालूम होती है। किंतु माया तो एक नाम ही है, इससे किसी वस्तु का का स्वरूप ज्ञान नहीं हो सकता। और यह समस्या भी समस्या ही रह जाती है कि आत्मा और परमात्मा-सीमित और असीम किस तरह साथ-साथ रहते हैं।

संसार में द्वन्द्व बहुत हैं; अर्थात् दो विरोधी वस्तुओं का नाम एक साथ आता है। राग-विराग, विधान-निषेध, धनशक्ति-ऋण-शक्ति, इन परस्पर-विरोधी शब्दों का एक साथ प्रयोग होता है। किंतु ये भी नाम हैं, इनसे भी वस्तुस्थिति की व्याख्या नहीं होती। इनसे यही प्रगट होता है संसार प्रायः दो विरोधी स्वभाव की शक्तियों, वस्तुओं या चेष्टाओं का समझौता ही होता है। ये शक्तियां निर्माता के दायें बायें हाथ की तरह पूरे समभाव से अपना कार्य करती हैं, यद्यपि दोनों विरुद्ध दिशाओं में काम कर रही हैं।

हमारी दोनों आंखों ने भी एक समता बनाये रखने का प्रण किया हुआ है, तभी दोनों मिल कर काम करती हैं। इसी तरह भौतिक संसार की शक्तियों में भी एक अटूट निरन्तरता का सम्बन्ध है। यही सम्बन्ध गर्मी-सर्दी, प्रकाश-अन्धकार, विश्राम-गति आदि में है। इसी कारण ये परस्पर-विरोधी तत्व प्रतिकूलता के स्थान पर अनुकूलता ही लाते हैं। यदि सृष्टि की रचना में केवल अव्यवस्था और संघर्ष होते तो हमें यही मानना पड़ता कि दो विरोधी स्वभाव के ये तत्व एक दूसरे को नीचा दिखाने में उद्यत हैं! किंतु स्मरण रहे विश्व में अभी अराजकता का राज्य नहीं हुआ है।

यहां कोई ऐसी शक्ति नहीं जो पागल बन जाय या अनिश्चित काल तक पथभ्रष्ट रहे अथवा उद्दण्ड होकर अपने आसपास की व्वस्था का भंग करे, उपद्रव मचाये। प्रत्येक शक्ति घूम-फिर कर अपने केन्द्रस्थान पर वापिस आ जाती है। लहरें उठती हैं; हर लहर मानों दूसरों से होड़ करती हुई आसमान को छूने ऊंची चढ़ जाती है, किंतु एक सीमा तक ही; अन्त में वह समुद्र के अथाह पानी में विराम पाती है। उन्हें समुद्र से उठ कर समुद्र में ही वापिस आना है। यह चढ़ाव-उतार इतना ताल में बंधा होता है कि उसमें सौंदर्य भर जाता है!

वस्तुतः ये परिवर्तन, कम्पन, उभार और उतार किसी रुग्ण शरीर की अस्वाभाविक ऐंठन के समान नहीं हैं; इनमें अलौकिक ताल बद्ध तारतम्यता है। नृत्य के पद-संचालन में जो ताल बद्धता होती है वही इनमें है। यह तालबद्धता विक्षिप्त चेष्टाओं में नहीं आ सकती। इनके मूल में किसी आधारभूत एकता को अवश्य मानना पड़ेगा।

एकता का यह सिद्धान्त ही इस रहस्यमयी प्रकृति का सबसे बड़ा रहस्य है। द्वित्व का रहस्य भी हमारे मन में एक संशय पैदा करता है किंतु इसका समाधान मौलिक एकता में ही मिलता है। जब इन दोनों में हम अनिवार्य समता पाते हैं तब हम जानते हैं कि सचाई उनके द्वित्व में, दुई में, नहीं एकता में है। और तभी हम यह कह उठते हैं जो स्वयं एक पहेली है कि—'एक को हम बहुधा रूपों में देखते हैं।'

कुछ लोग ऐसे भी हैं जो हमारे सब आनन्दमय कौतूहलों के मूल रहस्य, विविधता में एकता— को जान कर हर्षित नहीं होते। बात यह है कि हम इस नियम को अपनी खोज की अन्तिम मंजिल मान लेते हैं और यह अनुभव करके कि इस मंज़िल पर पहुँच कर भी उन्हें विशेष आत्मिक परितोष नहीं मिला, वे निराश हो जाते हैं। यह निराशा उनकी असीमता से आल्हादित होने वाली चेतना को मृतप्राय कर देती है।

सुन्दर से सुन्दर कविता की भी जब हम चीर-फाड़ कर देते हैं तो वह कुछ असंगत शब्दों का समूह ही जंचता है। जो उसका रस पहिचानते हैं, वही इन शब्दों की माला को पिरोने वाले सूत्र का महत्व जानते हैं। यह सूत्र एक ऐसी अचूक व्यवस्था है जो असंगत नहीं हो सकती। उसमें विचारों का विकास, संगीत की गति उसे

रूप देने की व्यवस्था बड़े सुन्दर रूप से होती है।

किंतु व्यवस्था की सीमा है। भाषा का अभ्यास करते हुए हम शब्दों के अभ्यास से शब्दों की व्यवस्था ही जान सकते हैं। यह भी महत्वपूर्ण ज्ञान है। किंतु यदि हम यहीं ठहर जांय और केवल भाषा के स्वरूप पर आश्चर्य करते रहें तो हम भाषा के लक्ष्य-साहित्य पर नहीं पहुँच सकते, क्योंकि शब्दों की व्यवस्था, या व्याकरण ही साहित्य नहीं है।

साहित्य व्याकरण के सिद्धांतों को पुष्ट अवश्य करता है किंतु वह उससे स्वतन्त्र, आनन्दमय रचना है। कविता का सौंदर्य इसके छन्दों में भी है किंतु वहीं तक नहीं है। वह उससे बाहिर रस में है। व्यवस्था का कार्य पंखों का होना चाहिए जो स्वयं भार बनने के स्थान पर उड़ने में सहायक हों। कविता का स्वरूप अवश्य व्यवस्था में है किंतु उसका रस उसके सौंदर्य में है। व्यवस्था ही स्वतन्त्रता की प्रथम सीढ़ी है और सौंदर्य अन्तिम सीढ़ी। सौंदर्य में सीमित और सीमा के बाहर की वस्तुओं की समता हो जाती है। सौंदर्य में व्यवस्था और स्वतन्त्रता एक ही क्षेत्र में केन्द्रीभूत होते हैं।

संसाररूपी कविता में भी, इसके स्वर-प्रवाह के नियमों का आविष्कार, इसका विस्तार, संकोच, विराम आदि स्थितियों का माप, तोल, और इसके आकार, प्रकार तथा चरित्र का आंतरिक ज्ञान। हमारे मन की बहुत बड़ी प्राप्ति है किंतु हम इस प्राप्ति पर ही संतोष नहीं कर सकते। यह तो एक रेल्वे स्टेशन है। स्टेशन के प्लेटफार्म को हम घर का नाम नहीं दे सकते। अन्तिम सत्य वही जान पाता है जो यह जानता है कि संसार का उद्भव आनन्द से ही होता है।

इससे मुझे यह विचार आया कि मनुष्य हृदय का प्रकृति से कितना रहस्यपूर्ण सम्बन्ध है। कार्य के बाहरी संसार में प्रकृति का

एक ही स्वरूप है, किंतु भिन्न हृदयों में या भिन्न क्षेत्रों में इसका रूप ही बदल जाता है।

फूल कितना सुन्दर लगता है, किंतु उसे भी एक निर्दिष्ट कार्य करना है; उसके रंग-रूप उसी कार्य की साधना में सहायक हैं। उसे फल की सृष्टि करनी है, नहीं तो फूल का वंश नष्ट हो जायगा और धरती फल-फूल-रहित बंजर भूमि बन जायगी। फूल का रंग और फूल की महक इसीलिये है कि मधुमक्खी उसमें बीज का वपन करे। जैसे ही फूल में बीज रखा जाता है और फल का समय आता है फूल की पंखड़ियां मुरझा कर मुड़ जाती हैं और सुगन्ध उसे छोड़ कर चली जाती है। फूल को श्रृंगार करने का समय नहीं रहता, वह इससे अधिक उपयोगी कार्य में लग जाता है। प्रकृति में प्रायः उपयोगिता के आधार पर ही सब काम चल रहे हैं। कली फूल बनती है, फूल फल बनता है, फल से बीज बनता है, बीज से फिर नया पौधा बनता है, इस तरह एक श्रृंखला सी बनी हुई है।

किंतु जब फूल मनुष्य के हृदय को मोह लेता है तो उसका उपयोगितामय जीवन विलासी जीवन में बदल जाता है। वही फूल जो असीम कार्य-व्यग्रता की मूर्त्ति था अब सौंदर्य और शांति की मूर्ति बन जाता है।

विज्ञान का दृष्टिकोण दूसरा है। वह कहता है कि फूल का उद्देश्य उससे भिन्न कुछ नहीं जो उसके बाह्य रूप से प्रगट होता है। उसके साथ सौंदर्य और शांति की संगति केवल मनुष्य हृदय की अपनी ही विलासी कल्पनाओं की उपज है।

किंतु हमारा दिल गवाही देता है कि हम भूल नहीं कर रहे। प्रकृति के क्षेत्र में फूल अपनी उपयोगिता का प्रमाणपत्र लेकर ही प्रविष्ट हुआ है, किंतु मनुष्य-हृदय के मन्दिर में इसका प्रवेश दूसरे

परिचय-पत्र द्वारा होता है। उस परिचय-पत्र में इसके सौन्दर्य का ही गुण-गान है। एक जगह यह दास बन कर जाता है, दूसरी जगह स्वतन्त्र रूप से प्रवेश करता है। हम एक को सत्य और दूसरे को मिथ्या नहीं मान सकते। इसके दोनों ही रूप सत्य हैं। फूल को वंश-वृद्धि के लिये फल बनाना है, यह इसका बाह्य सत्य है; किंतु आंतरिक सत्य यह है कि आनन्द से ही सब की उत्पत्ति होती है।[1]

फूल का कार्य केवल प्रकृति की आवश्यकता पूरी करना नहीं है, मनुष्य के मन की आवश्यकता पूरी करना भी उसका ही कार्य है। प्रकृति की प्रयोगशाला में वह नौकर बन कर काम करता है उसे निश्चित समय पर निश्चित काम करना ही पड़ेगा किंतु मनुष्य के हृदय में यह किसी महान देवता का दूत बन कर आता है; जिस तरह रावण की स्वर्ण नगरी में सीता के लिये हनुमान द्वारा लाई अंगुठी दूत बन कर आई थी। उसे देखते ही सीता को विश्वास हो गया था कि उसके हृदय-देव ने उसे भुलाया नहीं है, और शीघ्र ही वे उसकी सहायता के लिये आयेंगे।

फूल भी हमारे महान प्रेमी का यही संदेश लेकर आता है। यह संसारी धन-वैभव से भरी दुनिया ही रावण की स्वर्ण नगरी है। हम इसमें नज़रबन्द कैदी हैं। इसका चमकीला रूप और इसके भोग विलास हमें इसकी ही बहू बन रहने को ललचाते हैं। इसी बीच फूल हमारे प्रभु का संदेश लेकर आता है और हमारे कानों में धीरे से कहता है "मैं आ गया हूँ। उसने भेजा है। मैं उस सौंदर्य-देवता का दूत हूँ जिसकी आत्मा रूप से पूर्ण है। वह तुम्हें भूला नहीं है, जल्दी ही तुम्हें लेने

---

[1] आनन्दाद्ध्येव खल्विमानि भूतानि जायन्ते।

आयगा। स्वर्ण-नगरी के ये मायाजाल तुम्हें देर तक अपने बन्ध में नहीं रख सकेंगे।"

यदि हम जाग्रत होते हैं तो उससे प्रश्न करते हैं कि—"हमें कैसे विश्वास हो कि तुम हमारे प्रेमी के ही दूत हो"। वह उ देता है—"देखो, मेरे पास उसकी यह निशानी है। इसका रंग- कितना सुन्दर है"।

सचमुच वह सुन्दर होता है। यही तो हमारे प्रेम की निश है। तब हमारे सब संशय छिन्न-भिन्न हो जाते हैं। केवल मधुर स्मृति चिन्ह का स्पर्श हमें दिव्य प्रेम से विभोर कर देता हमें साफ अनुभव होने लगता है कि इस स्वर्ण-नगरी में हमारे कोई आकर्षण नहीं, हम दूसरी ही दुनियां की आत्मायें हैं, ह अपना घर इससे दूर, बहुत दूर है।

फूल में मधुमक्खी के लिये जो वस्तु केवल रंग और ग वही मनुष्य-हृदय के लिये सौंदर्य और आनन्द बन जाता है। हमारे पास प्रभु द्वारा विविध रंगों से लिखे प्रेम-पत्र के आता है।

बाहर से हमारी प्रकृति कितनी हो कार्य-व्यग्र दिखला उसके हृदय में भी एक ऐसा एकान्त है जहां विश्रान्ति का रा जहां सब काम उपयोगिता की दृष्टि से नहीं होते, स्वतन्त्र इ होते हैं। उस एकान्तस्थल पर प्रयोगशाला की आग उस दीप-शिखा में बदल जाती है और मशीनों का शोर संगीत बन जाता है। प्रकृति के बाह्य रूप में कारण-कार्य की जंजीरें कर्कश आवाज़ में खनखनाती है किन्तु मनुष्य-हृदय में यही ख सितार की स्वर्णमय तारों से निकलती हुई झंकार बन जाती है

सचमुच यह आश्चर्य का विषय है कि प्रकृति एक सा

रूपों में किस प्रकार प्रगट होती हैं; एक बन्धनमय, दूसरा स्वतन्त्र। प्रकृति के एक ही कार्य में दो तरह की झलक—एक उपयोगिता दूसरी आनन्द - कैसे दिखलाई देती हैं। एक रूप में वह परिश्रम की साकार मूर्ति दीखती है, दूसरे में विश्रान्ति की। बाहर से वह अनेक जंजीरों में बंधी मालूम होती है किन्तु उसका हृदय मुक्त-सौन्दर्य-पूर्ण होता है।

हमारे ऋषि कहते हैं "आनन्द से ही सब जीव उत्पन्न होते हैं, विकास पाते हैं और अन्त में आनन्द में ही लीन हो जाते हैं।"

इसका यह अभिप्राय नहीं कि ऋषियों को प्रकृति के नियमों का ज्ञान नहीं था अथवा वे काल्पनिक विचारों के विलास में इतना डूब गये थे कि वस्तुस्थिति का उन्हें ज्ञान ही नहीं रहा था। प्राकृतिक नियमों की कठोरता का उन्हें पूरा आभास था। इसीलिये उन्होंने कहा था कि "अग्नि इन नियमों में बंधी होने के कारण ही जलती है, सूर्य इन नियमों के भय से ही चमकता है; वायु, अग्नि और मृत्यु भी इन्हीं के अनुशासन में अपने कर्तव्य-कर्म करते हैं।" इस कठोर अनुशासन की विद्यमानता का ऋषियों को पूर्णज्ञान था। फिर भी उनका कवि-हृदय आनन्द-विभोर होकर यह गीत गाता था:—आनन्द से ही सब जीव उत्पन्न होते हैं, विकास पाते हैं और आनन्द में लीन होजाते हैं।

आनन्द रूप में ही वह अमर शक्ति अपने को प्रगट करती है[1]। उसका पूर्ण आनन्द ही सृष्टि के रूप में सामने आता है। आनन्द की पूर्णता का यह स्वभाव ही है कि वह इस रूप में, जो नियम-व्यवस्था है, अपनी अनुभूति करे। रूपहीन में आने के लिये रचना करता है। गायक का आनन्द संगीत के रूप में प्रगट होता है, रह

१ आनन्दरूपममृतं यद्विभाति।

कवि का अनन्द कविता के रूप में प्रकाशित होता है। मनुष्य का असीम आनन्द भी कई रूपों में प्रगट होकर मनुष्य को निर्माता की पदवी देदेता है।

यह आनन्द—जिसका दूसरा नाम प्रेम भी है—स्वभाव से ही द्वित्वमय है। प्रत्येक कलाकार द्वित्वमय होता है। गायक गीत गाते हुये श्रोता भी होता है। श्रोताओं में भी उसीका यह अंश विस्तीर्ण होता है। प्रेमी अपनी प्रिय वस्तु में अपने ही रूप की छाया देखता है। प्रियवस्तु से वियोग की कल्पना भी उसी के आनन्द की कृति है—जो वियोग के बाद मिलन की इच्छा से बनाई जाती है।

'अमृतम्'—अमृत, आनन्द भी द्विरूप है। हमारी आत्मा स्वयं को दो रूपों में बांट लेती है। वही प्रेमी है, वही प्रिय। दोनों बिछुड़ जाते हैं। यह वियोग ही यदि वास्तविक हो तो संसार में केवल दुख और पाप का ही राज्य रहे। दुख से आनन्द और पाप से पवित्रता का जन्म नहीं हो सकता। तब इस विभिन्नता को एकता के रूप में लाने के लिये हमारे पास कोई माध्यम ही न रहे; भाषा, भाव, हृदयों का द्रवित होना या आत्मिक समभाव, किसी का कुछ अर्थ ही न रहे। सौभाग्य से ऐसा नहीं है। वियोग कठोर सत्य न होकर तरल अवस्था में ही रहता है। वियुक्त वस्तुयें अपना रूप बदलती रहती है; एक दूसरे में मिलती-घुलती रहती हैं, परमाणु अपनी सीमाओं को तोड़ कर नये मिश्रण तैयार करते रहते हैं और जीवन की परिभाषा दिन प्रतिदिन अनिश्चित होती जाती है।

हमारी आत्मा का विश्वात्मा से बिछोह हुआ है, किन्तु यह जुदाई प्रेम की जुदाई है इसीलिये हमारी आत्मा में यह शक्ति रहती है कि वह असत्य, कष्ट और पाप पर विजय-लाभ करती और इन्हें नये शक्ति और सौन्दर्य पूर्ण रूपों में बदलती रहती है।

गायक अपने आनन्द को गीत में बदलता है, अपने आनन्द को प्रत्यक्ष रूप देता है; श्रोता उस गीत को फिर उसके मूल रूप आनन्द में बदल देता है। आनन्द से ही गति का उद्भव हुआ और आनन्द में ही वह बदल गया। तभी गायक और श्रोता में एकरसता आती है, एकात्मता आती है। इसी तरह वह असीम आनन्द अपने को अनेक रूपों में, नियमों के माध्यम से प्रगट कर रहा है। हम उन रूपों को फिर नव आनन्द में ही परिवर्तित कर देते हैं, नियमों को प्रेम बना देते हैं तो हम एक टूटे सूत्र को फिर जोड़ देते हैं। शृंखला पूरी होजाती है।

मनुष्य की आत्मा नियम से प्रेम, नियन्त्रण से मुक्ति और नैतिक से आत्मिक धरातल की ओर यात्रा कर रही है। बुद्धि ने आत्म-संयम और नियमित जीवन का उपदेश दिया; वह आदर्श नियमों की पूर्णता का था। किन्तु नियमों का यह बन्धन ही हमारा अन्तिम ध्येय नहीं हो सकता। इन बन्धनों पर पूर्ण स्वामित्व पाकर हमें आगे बढ़ने की योग्यता प्राप्त हो जाती है। हम फिर ब्रह्म की ओर, असीम प्रेम-पुञ्ज की ओर बढ़ते हैं। बुद्ध ने इसे ब्रह्म-विहार कहा है; अर्थात् ब्रह्म में स्थित रहने का आनन्द। बुद्ध के ही शब्दों में जो मनुष्य इस स्थिति में पहुँचना चाहता है उसका कर्त्तव्य है कि वह किसी को धोखा न दे, किसी से विद्वेष न करे और क्रोध द्वारा भी किसी को कष्ट न दे। उसके हृदय में प्रत्येक प्राणी के लिये असीम प्रेम होगा; इतना प्रेम जितना मां के दिल में अपने बच्चे के लिये होता है। वह व्यक्ति ऊपर, नीचे और अपने चारों ओर प्रेम का विस्तार करता है। उठते-बैठते, सोते-जागते, चलते-फिरते हर समय उसका हृदय सबके लिये कल्याण-कामना से परिपूर्ण रहता है।

प्रेम का अभाव भी एक मात्रा में विद्वेष का ही एक रूप है; क्योंकि प्रेम चेतनता का पूर्ण रूप है। प्रत्येक वस्तु का, जो भी अस्तित्व रखती है, प्रयोजन प्रेम में ही पूरा होता है। अतः प्रेम केवल एक भावना नहीं है, यह सत्य है; यह वह आनन्द है जो प्रत्येक वस्तु के निर्माण का मूलस्रोत है। यह पूर्ण चेतनता की वह स्वच्छ, श्वेत किरण है जो ब्रह्म से उद्भूत होती है। इस 'सर्वानुभूः' व्यापक अस्तित्व से, जो आकाश में और हृदयाकाश में विद्यमान है एकात्मता पाने का एकमात्र मार्ग प्रेम ही है। यदि आकाश इस प्रेम से, आनन्द से न भर जाय तो कौन अनुप्राणित होगा, कौन गतिशील होगा[1]। अपनी चेतनता को प्रेम की ऊंची सतह तक ले जाकर और विश्वभर में इसी प्रेमाप्त चेतनता का विस्तार करके ही हम ब्रह्मविहार, या असीम आनन्द में एकात्मता, प्राप्त कर सकते हैं।

प्रेम स्वतः अनन्त उपहार देता है। किन्तु इन उपहारों का कुछ भी अर्थ नहीं है, यदि हम उन द्वारा उस प्रेम को नहीं पाते जो स्वयं उपहार दे रहा है। उसे पाने के लिये हमारा हृदय भी उसी प्रेम-से पूर्ण होना चाहिये। प्रेम-रहित हृदयसे उपहार लेनेवाला केवल वस्तु की उपयोगिता जानकर उपहार लेता है। यह उपयोगिता तो क्षणिक और एकपक्षी है। यह केवल हमारी क्षणिक इच्छा को शान्त करती है। इच्छा को शान्ति के बाद यह उपयोगिता ही भार बन जाती है। किन्तु एक उपहार या प्रेम-चिन्ह हमारे लिये स्थायी मूल्य की वस्तु बन जाता है यदि हम उसे प्रेमभाव से ही स्वीकार करें। उपहार की उपयोगिता केवल भावना में है। वह स्वयं में पूर्ण है, किसी

---

१. कोह्येवानयत् कः प्राणयत् यदेष आकाश आनन्दो न स्यात्।

अन्य अर्थ की सिद्धि का साधन नहीं है। उपहार जब साधन बन जाय तो उपहार नहीं रहता।

प्रश्न यह है कि हम जगत को, जो आनन्द का पूर्ण उपहार है, किस रीति से स्वीकार करते हैं ? क्या हम इसे अपने उस हृदय-मन्दिर में स्थान देते हैं जहां हम अपने अमर देवताओं का प्रतिष्ठान करते हैं। साधारणतया हम विश्व की शक्तियों का उपयोग करके अधिक-से-अधिक शक्तिसंग्रह करने में व्यग्र रहते हैं। विश्व के अक्षय भंडार से हम यथाशक्ति अधिकाधिक पाने की प्रतियोगिता में लड़ते-झगड़ते जीवन बिता देते हैं। क्या यही हमारे जीवन का ध्येय है ? हमारा मन केवल जगत का उपयोग करने की चिन्ता में व्यस्त रहता है—इसीसे हम इसका सच्चा मूल्य नहीं पहचान पाते। हम अपनी भोगकामनाओं और विलासी चेष्टाओं से इसे सस्ता बना देते हैं और अन्त में हम इसे केवल अपनी पूर्त्ति का साधन मान बैठते हैं और उस नादान बालक की तरह, जो पुस्तकों के पन्ने फाड़-फाड़कर रखते हुए आनन्दित होता है, प्रकृति की उधेड़-बुन में ही जीवन का आनन्द समझ बैठते हैं। उसका असली मूल्य हमारे लिये उसी तरह रहस्य बना रहता है। जिस तरह उसके पन्नों से खेलने वाले बच्चे के लिये पुस्तक का ज्ञान।

मनुष्य-भक्षक जातियों में मनुष्य भी खाद्य भोजन माना जाता है। मनुष्य का मूल्य अन्य खाद्य पदार्थों की तरह ही मापा जाता हैं। ऐसे देश में सभ्यता कभी पनप नहीं सकती, क्योंकि मनुष्य पशुओं की सतह पर आ जाता है, अपनी श्रेष्ठता भूल जाता है। कुछ अन्य प्रकारों की मनुष्य-भक्षकता भी देखने में आती है। वह भी कम पैशाचिक नहीं है। उसे देखने के लिये दूर जाने की ज़रूरत नहीं। पास ही सभ्यदेशों में उसके निशान मिल जायंगे। कुछ सभ्य देशों

में भी मनुष्य केवल हाड़-मांस का पिंजर समझा जाता है, और वह बाज़ार में अपने शरीर की कीमत पर ही खरीदा व बेचा जाता है। उसे अपनी उत्पादक उपयोगिता का मूल्य मिलता है, उसे मशीन समझा जाता है जिसे पैसे वाले और अधिक पैसा बनाने के लिये खरीदते हैं। इस तरह हमारा लोभ, हमारी भोगेच्छा, हमारी लोलुपता मनुष्य को निकृष्टतम धरातल पर ले जाती है। यह एक बहुत बड़े पैमाने की आत्म-वंचना है। हमारी भोगलिप्सा हमें मनुष्य की आत्मा के देखने को अन्धी बना देती है। अपनी आत्मा के साथ हम यह घोर अन्याय करते हैं। इससे हमारी विवेक-बुद्धि नष्ट हो जाती है और हम आत्मिक अपघात के मार्ग पर चल पड़ते हैं। यह हत्या हमारी सभ्यता के शरीर पर भद्दे दाग छोड़ जाती है; शहरों में पाप की कन्दरायें, वेश्याघर और शराबखाने—बनाती है। उनके जवाब में प्रतिहिंसक कानून बनते हैं,क्रूर जेलखाने बनते हैं और एक देश द्वारा दूसरे देश को गुलाम बनाने की योजनायें बनती हैं। यही भोगेच्छा है जो एक जाति को दूसरी जातियों के संगठित शोषण के लिये उत्तेजित करती है और उन्हें सदा के लिये अरक्षित करके स्वशासन के अयोग्य बना देती है।

निस्सन्देह मनुष्य बहुत उपयोगी शक्ति है, क्योंकि उसका शरीर एक आश्चर्यजनक यन्त्र है और उसके मन में अलौकिक क्षमता है। किन्तु उसमें आत्मा भी है, जिसे प्रेम भी कहते हैं। जब हम उसकी उपयोगिता को दृष्टि में रखकर बाजार में उसका मूल्य निर्धारण करते हैं तो हम उसका आंशिक मूल्य ही आंकते हैं। हम उसे पूर्ण रूप से नहीं जानते। यह अपूर्ण ज्ञान हमें मनुष्य के साथ अन्याय करने की सुविधा दे देता है। और हम अपने लोभ के लिये उसका शोषण करके अपनी इस कुशलता पर गर्वित होते हैं कि हमने बाजार में

उसके लिये जो मूल्य दिया था उससे अधिक मूल्य का लाभ उठा लिया। हमारी यह मनोवस्था इसी कारण होती है कि हम उसकी आत्मा से परिचित नहीं। उसे अपने से जुदा समझते हैं। यदि हम उसे अपना ही अंश समझें तो उसके दुख को अपना दुख समझेंगे और उसे निकृष्ट धरातल पर ले जाते हुए यह अनुभव करेंगे मानों हम अपना ही मूल्य घटा रहे हैं।

एक दिन मैं गंगा में नाव पर जा रहा था। शरद् की सुन्दर सन्ध्या का समय था। सूरज अभी २ अस्त हुआ था। आकाश की निस्तब्धता पूर्ण शान्ति और सौन्दर्य से लबालब भरी हुई थी। पानी की फैली हुई चादर पर एक भी बुलबुला नहीं था। सूर्यास्त के बदलते हुए सब रंग उसमें बड़े साफ़ चमक रहे थे। मीलों तक रेत के मैदान फैले हुए थे। मानों कोई समुद्री दैत्य लेटा हुआ था, जिसकी पूंछ चमकते रंगों से झिलमिला रही थी। हमारी नाव तट के ऊँचे घाट से लगी हुई धीमे-धीमे बह रही थी। अचानक एक बड़ी मछली पानी की सतह पर उछली। उसके ओझल होते शरीर पर सान्ध्य आकाश के सभी रंगों की झलक पड़ी। एक क्षण के लिये उसने रंगमंच से वह सप्तरंगी परदा हटा लिया, जिसके पीछे जीवन के आनन्द से भरा हुआ मौन संसार खड़ा था। वह न जाने किस रहस्य-मय संसार से नृत्य करती हुई आई थी और अवसान प्राय दिवस के स्वर में अपना संगीत मिला कर लौट गई थी। मुझे प्रतीत हुआ जैसे किसी अज्ञात प्रदेश से मुझे प्रेमभरा स्वागत मिला हो। हृदय को छूती हुई इस घटना ने मेरे हृदय में आनन्द की लहर-सी पैदा कर दी। किन्तु उसी समय मैंने नाविक के मुख से यह दुखभरा वाक्य सुना "ओ हो— कितनी बड़ी मछली थी।" मछली को देखते ही उसने इसका भोजन बनाकर खाने की कल्पना कर ली थी। वह

केवल अपनी भूख की नज़र से ही मछली को देख सकता था। इसलिये मछली के वास्तविक सौन्दर्य का उसे आभास ही नहीं हो सकता था। किन्तु मनुष्य में केवल पशु-दृष्टि नहीं है। उसमें आत्मिक दृष्टि भी है—जो सत्य को देख सकती है। यही उसके आत्मिक आनन्द का कारण होती है। क्योंकि यही उस रहस्यमयी सुन्दर समता का अवलोकन कराती है जो उसके अपने और आसपास की वस्तुओं के बीच होती है। हमारी भोगेच्छा हमारी आंखों पर परदा डालकर इसकी दर्शनशक्ति को बहुत सीमित बना देती है। हमारी विवेकशक्ति को संकीर्ण बनाती है और पाप भावना को जगाती है। यही पाप भावना है जो विषमता और अहंकारपूर्ण व्यक्तित्व को उत्साहित करके हमारे ईश्वर और हमारे बीच दीवार बन जाती है।

पाप अकेला एक ही कार्य नहीं है, यह तो एक मनोवस्था या विचारधारा का परिणाम है जो भोग को ही जीवन का लक्ष्य मानती है और यह समझती है कि संसार की वस्तुओं में कोई दिव्य समता नहीं है और हर कोई अपने लिये जीता है।

इसीलिये मैं यह बात दोहराता हूं कि हम जब तक मनुष्य से प्रेम नहीं करेंगे उसको पूरी तरह समझ नहीं सकेंगे। सभ्यता की परख यह नहीं होनी चाहिये कि उसने कितना शक्तिसंग्रह किया है बल्कि यह कि उसने मनुष्य-प्रेम को विकसित करने के मार्ग में कितना कार्य किया है, कौन-सी संस्थायें बनाई हैं, कौन-सी व्यवस्था की है और व्यवस्थित उद्योग किया है। सबसे पहला और अन्तिम प्रश्न यह है कि वह मनुष्य को केवल एक यन्त्र मानती है या जीवित आत्मा। प्राचीन सभ्यताओं का अन्त जब भी हुआ, इसी कारण से हुआ कि उन्होंने मनुष्य का मूल्य घटा दिया था; मनुष्य-हृदय ने क्रूरता अपना ली थी। जब कोई राष्ट्र या उसका प्रभावशाली जनसमूह मनुष्य को

अपनी शक्तिसंग्रह का उपकरण मात्र समझना शुरू करदे तभी वह मनुष्य की महानता पर कुठाराघात करता है। कोई भी सभ्यता ऐसी मनुष्य-भक्षी राक्षसी वृत्तियों के आधार पर खड़ी नहीं रह सकती।

जैसा मनुष्य के साथ है वैसा ही प्रकृति के साथ भी है। जब हम संसार को अपनी कामनाओं के परदे से देखते हैं तो उसे संकीर्ण बनाते हैं और वास्तविक सत्य को नहीं देखते। यह सच है कि संसार हमारी आवश्यकताओं को पूरी करता है किन्तु यही तो उससे हमारा नाता नहीं है। हम केवल उपयोगिता व स्वार्थसाधन के निमित्त ही तो संसार से बंधे हुए नहीं हैं। हमारा संबन्ध इससे गहरा है। हमारा साहचर्य सच्चा है। हमारी आत्मा भी संसार के प्रति आकर्षित होती है; जीवन के प्रति हमारा गहरा प्रेम भी हमें इस महान् विश्व से आत्मीयता जारी रखने की प्रेरणा देता है। यह संबन्ध प्रेम का सम्बन्ध है। हमें खुशी है कि हम इस संसार के वासी हैं; अनेक सूत्रों से हम इससे बंधे हुए हैं। ये सूत्र पृथ्वी से नक्षत्रलोक तक फैले हुए हैं। मनुष्य अपने प्राकृत जगत से पृथकत्व दिखलाकर अपनी महानता सिद्ध करने की व्यर्थ ही कोशिश करता है। इसी अभिप्राय से कई बार तो वह भौतिक जगत से सर्वथा उदासीनता भी दिखलाने लगता है। किन्तु ज्ञान की वृद्धि के साथ २ उसे इस पृथकत्व को जतलाने में कठिनाई का अनुभव होता जाता है। पृथकत्व के लिए जो दीवारें वह खड़ी करता है वे धीरे-धीरे एक के बाद एक गिरती जाती हैं। यदि हम अपने अहंकार को अपने आत्मबोध के मार्ग में अवरोधक बनालें तो वह अवरोध किसी-न-किसी दिन सत्य के महान् चक्र में अवश्य पिसेगा। हमारी आत्मा अपने से कम विस्तृत संसार में रहना पसन्द नहीं करेगी। जिस तरह कोई भी व्यक्ति हमेशा

दास दासियों से घिरा रहना नहीं चाहता; अपने जैसे स्वतन्त्र मनुष्यों में वह उठना-बैठना चाहता है उसी तरह हमारी आत्मा भी अपने जैसी विशाल और स्वन्त्र शक्तियों के बीच ही रहना चाहती है।

विज्ञान की नई प्रगति भी विश्व की एकता और विश्व के साथ हमारी एकात्मता के सत्य को अधिकाधिक स्पष्ट करती जा रही है। एकता की पूर्णता का यह अनुभव केवल तर्क से ही मान्य हो, ऐसा नहीं है। जब हमारी आत्मा विश्वात्मा की ज्योति में अपने स्वरूप को प्रकाश में लाती है तो वह एक व्यापक प्रेम और आलोकभरे आनन्द के रूप में प्रगट होती है। हमारी आत्मा संसार में अपने से महत्तर आत्मा का अनुभव करती है और उसकी अमरता पर उसे पूर्णविश्वास हो जाता है। हमारी आत्मा 'अहं' की नज़रबन्दी में सैकड़ों बार मरती है; क्योंकि पृथकत्व में ही मृत्यु है, उसे अमर नहीं बनाया जा सकता। किन्तु जहां यह सर्वभूतों में आत्मवत् देखता है वहां वह कभी मरता नहीं। मनुष्य स्वतन्त्र ही तब कहलाता है जब वह संसार के आत्मिक जीवन की धड़कन को अपनी आत्मा में सुनता है। तभी इस संसार रूपी दुलहन और परमात्मा रूपी वर में प्रेम-लीला प्रारम्भ होती है। तभी उसे अनुभव होता है कि वही इस प्रेम के भव्य समारोह का भागीदार नायक है और वही अमरता के भोज का प्रतिष्ठित अतिथि है। तभी वह ऋषियों के इस गीत का अर्थ समझ पाता है कि प्रेम से ही सृष्टि का जन्म होता है, प्रेम से ही इसकी व्यवस्था होती है और अन्त में प्रेम में ही वह लीन हो जाती है।

प्रेम में जीवन की सब विरोधी शक्तियां स्वयं को मिटाकर एक हो जाती हैं। केवल प्रेम ही ऐसा क्षेत्र है जहां एकत्व और द्वित्व विरोध भाव से नहीं रहते। प्रेम स्वयं एक साथ अनेक और एक रूप में होता है।

केवल प्रेम ही है जो एक साथ गति भी है और विराम भी। हमारा हृदय सदा प्रेम की शोध में गतिशील रहता है किन्तु प्रेम की प्राप्ति के बाद विश्रान्ति में लीन हो जाता है। और यही विश्रान्ति असीम गति का ही एक रूप बन जाती है जहां प्रेम में इन दोनों का मिलन होता है।

प्रेम में लाभ और हानि एक सम हो जाते हैं। इसके मूल्यांकन में आय और व्यय के अंक एक ही स्तम्भ में लिखे जाते हैं। उपहारों की गणना लाभ के साथ होती है। सृष्टि के इस आश्चर्यजनक उत्सव में, आत्मदान के इस ईश्वरीय महायज्ञ में, प्रेमी को निरन्तर आत्माहुति देनी पड़ती है। इस आत्मदान से ही वह प्रेम पाता है। प्रेम ही ऐसा यज्ञ है जिसमें आदान और प्रदान इतने समवायि भाव से सम्बद्ध हैं।

प्रेम के एक छोर पर व्यक्तिगत अस्तित्व है दूसरे पर अव्यक्तिगत या केवल भावनात्मक। एक ओर 'मैं हूं' की निश्चित धारणा है दूसरी ओर उतनी ही प्रबल धारणा है 'मैं नहीं हूं'। इस 'मैं' के बिना प्रेम का अस्तित्व नहीं बनता किन्तु केवल इस 'मैं' की प्रबल भावना में भी प्रेम कहां रह सकता है ?

प्रेम में मोक्ष और बन्धन परस्पर विरोधी हैं। क्योंकि प्रेम मोक्ष की भी चरम स्थिति है और बन्धन को भी। ईश्वर यदि सर्वथा मुक्त भाव रखता तो सृष्टि का निर्माण असंभव था। सृष्टि में असीम ने स्वयं को सीमा में बांधा है। प्रेम में सीमित और असीम एक हो जाते हैं।

इसी तरह जब हम मुक्ति और बन्धन के आपेक्षिक मूल्य की चर्चा करते हैं तब यह चर्चा केवल शब्दों का खेल हो जाती है। हम केवल मुक्ति चाहते हों; ऐसा नहीं है; बन्धन भी हम चाहते हैं।

प्रेम की यह विशेषता है कि वह सब सीमाओं को स्वीकार करके उन्हें लांघना चाहता है। क्योंकि प्रेम से अधिक कौन स्वतन्त्र होगा? किन्तु प्रेम से अधिक बन्धन भी कहां है? सच तो यह है कि प्रेम का बन्धन भी मोक्ष की तरह यशस्वी और उज्ज्वल है।

वैष्णव मत का यह मन्तव्य है कि ईश्वर ने स्वयं को मनुष्य के आकार में बांध लिया है; इसी में मानव की यशस्विता है। सीमित संसार के अद्‌भुत संगीत में वह अपने को प्रत्येक स्वर में बांधता है और इस तरह इस सौन्दर्य संगीत में प्रेम भरता है। सौन्दर्य का प्रयोजन ही हमारे हृदय को मोहना है, इसका दूसरा अर्थ संभव ही नहीं है। यह सौन्दर्य ही हमें संकेत करता है कि सृष्टि का अन्तिम प्रयोजन प्रभु शक्ति का प्रदर्शन नहीं है। सृष्टि के हर रंग से, हर संगीत से और हर सुन्दर रूप से प्रेम का संदेश आता है।

सृष्टि का सौन्दर्य हमारी स्वतंत्रता का पूरा सन्मान करता है। हम चाहें तो उसकी बिल्कुल उपेक्षा कर सकते हैं। किसी तरह का भी बन्धन हमारे मन पर नहीं है। उसे तो हम से प्रेम की चाह है। प्रेम में बन्धन नहीं हो सकता। बन्धन की प्रेरणा मनुष्य को प्रिय नहीं होती; आनन्द की ही होती है। सृष्टि में सर्वत्र आनन्द है; पृथ्वी की मखमली घास में नीले, आकाश की पवित्रता में, बसन्त के उन्मुक्त भाव से सौन्दर्य दान में, हेमन्त के कठोर तप में, मनुष्य शरीर के अलौकिक सन्तुलन में, जीवन में, शक्ति प्रयोग में, ज्ञान साधना में, पाप के साथ युद्ध में, परहित प्राण त्याग में। आनन्द सभी जगह छाया हुआ है। उपयोगितावाद की सब युक्तियां इसके सामने निरर्थक और अतिशयोक्तिपूर्ण मालूम होती हैं। नियमों के बन्धन भी केवल प्रेम की भाषा में समझाये जा सकते हैं। नियमों और प्रेम का सम्बन्ध शरीर और आत्मा का सम्बन्ध है। आनन्द की प्रतीति तभी होती है जब हम अपनी आत्मा का संसार से और संसार की आत्मा का विराट् की आत्मा से एकत्व अनुभव करते हैं।

६ : कर्मसाधना से प्रभुप्राप्ति

जिन्हें यह मालूम है कि आनन्द स्वयं को नियमों के रूप में प्रगट करता है वही नियमों का सच्चा पालन करते हैं। उनके लिये नियमों के बन्धन शिथिल नहीं हो जाते किन्तु वही बन्धन स्वतन्त्रता की साकार मूर्त्ति अवश्य हो जाते हैं। मुक्त आत्मायें बन्धनों को सानन्द स्वीकार करती हैं, उनसे बच निकलने का रास्ता नहीं ढूढ़तीं क्योंकि हर बन्धन में उसी असीम शक्ति का साक्षात् करती हैं जिसका आनन्द निर्माण है।

वस्तुतः जहां बन्धनों का सर्वथा अभाव हो और जहां उन्मत्त स्वच्छन्दता नाच रही हो, वहां आत्मा की स्वतंत्रता नष्ट होजाती है। वहां वह असीम से वियुक्त होजाती है पाप के सन्ताप में ग्रस्त अनुभव करती है। जब कभी भोग की इच्छा के वशीभूत होकर आत्मा नियम-बन्धनों की उपेक्षा करती है तभी वह माता की गोद से वियुक्त बच्चे की तरह पुकार उठती है "मा मा हिंसीः", मेरी हिंसा मत कर; मुझे अपनी बाहों में बांधले, कस ले, अपने नियमों की शृंखला में आनन्द की मणियों के संग पिरो ले और मुझे अपने लोहे के समान कठोर पंजे में रखकर पाप की घातक लचकीली लपटों से बचाये रख।

कुछ लोग नियमों के बन्धन का आनन्द से सहज विरोध मानकर अनियमित उन्माद को ही आनन्द मान बैठते हैं। इसी तरह कुछ ऐसे हैं जो कर्म के बन्धन का स्वतंत्रता से सहज विरोध मानते हैं। उनका विचार है कि क्योंकि कर्म का क्षेत्र पार्थिव जगत् है इसलिये आत्मा को कर्म के लिये बन्धन में बंधना पड़ता है। किन्तु

हमें यह स्मरण रखना चाहिये कि जिस तरह आनन्द नियमों के रूप में अपने को प्रगट करता है उसी तरह आत्मा स्वयं को कर्म के रूप में प्रगट करती है। आनन्द अपने ही रूपमें प्रगट नहीं हो सकता इसलिये वह प्रकाशित होने के लिये नियमों पर निर्भर करता है। इसी तरह आत्मा भी अपने ही रूप में प्रगट नहीं हो सकती अतः वह बाह्य कर्मों के रूप में प्रगट होती है। आत्मा अपने स्वरूप के आच्छादनों से मुक्त होती रहती है—यह उसका स्वभाव है। ऐसा न होता तो आत्मा स्वतन्त्र रूप से किसी काम में प्रवृत्त नहीं होती।

मनुष्य जितना ही कर्म में प्रवृत्त होता है और अपने प्रसुप्त तत्वों को स्पष्टता का रूप देता है उतना ही वह दूर के होनहार को निकट लाता है। इस स्पष्टीकरण में मनुष्य अपने ही रूप को अधिक से अधिक स्पष्ट करता है और नये नये पहलू से नई प्रवृत्तियों में अपना साक्षात् करता है। यह साक्षात्कार उसकी स्वतन्त्रता की क्षति-पूर्ति कर देता है।

स्वतन्त्रता अन्धकार में, अदृश्यता में या अस्पष्टता में नहीं है। अदृश्यता से अधिक भयावह बन्धन कौनसा हो सकता है? इस भयानक अदृश्यता से मुक्ति पाने के लिये ही बीज संघर्ष करके अंकुर रूप में फूटता है और कली फूट कर फूल के रूप में खिलती है। इसी डरावनी लुप्त अन्धता से मुक्त होने के लिये हमारे मन के विचार किसी बाह्यरूप में प्रकाशित होने का अवसर खोजते रहते हैं। इसी तरह हमारी आत्मा अस्पष्टता की धुन्ध से मुक्ति पाकर प्रकाश में आने के लिये नये कर्मक्षेत्रों का निर्माण करती है, नित्य नये कर्मों में प्रवृत्त होती है, भले ही वे काम उसकी पार्थिव आवश्यकताओं के लिए उपयोगी हों या न हों। वह ऐसा क्यों करती है?—इसलिये कि

वह स्वतन्त्रता चाहती है। वह अपना साक्षात् करना चाहती है, अपने को अनुभव करना चाहती है।

मनुष्य बीहड़ जंगल को काटकर उपवन में बदलता है। इस तरह जंगल की कुरूपता में बंधे जिस सौन्दर्य को वह मुक्त करता है वह उसकी आत्मा का ही सौन्दर्य है। उसे बाहरी क्षेत्र में मुक्त किये बिना अपने भीतर भी वह उसे मुक्त नहीं कर सकता। इसी तरह जब वह समाज की उन्मत्त प्रवृत्तियों के बीच न्याय नियम का बपन करता है तब जिस कल्याण को कुत्सित पाप-बन्धनों से मुक्त करता है वह उसकी आत्मा का ही कल्याण होता है। बाह्य जगत् में उसे मुक्त किये बिना वह मुक्ति की आशा नहीं कर सकता। इस प्रकार मनुष्य अपने कल्याण, अपनी शक्तियों, अपने सौन्दर्य और अपनी आत्मा को मुक्त कराने में प्रतिक्षण व्यग्र रहता है। इस बन्ध विमोचन कार्य में मनुष्य को जितनी सफलता मिलती है उतना ही उसका व्यक्तित्व विस्तीर्ण होता जाता है।

उपनिषदों का प्रवचन है कि मनुष्य कर्म में प्रवृत्त रहता हुआ ही सौ वर्ष जीने की इच्छा करे[1]। यह वचन उन ऋषियों का है जो आत्मिक आनन्द की साक्षात् अनुभूति कर चुके थे। जो लोग आत्मा का बोध कर लेते हैं वे कभी कर्मबन्धन को अभिशाप नहीं कहते या कर्म संन्यास की चर्चा तक नहीं करते थे। उस कमज़ोर कली की तरह नहीं होते जो फल देने से पूर्व ही मुरझा कर गिर पड़े। वे आत्मज्ञानी जीवन के कार्यों में तबतक संलग्न रहते हैं जबतक वह फलीभूत न होजाय। वे अपने कार्य में पूरी शक्ति से प्रवृत्त रहते हुए अपने कार्य की सिद्धि में ही आनन्द का अनुभव करते हैं। शोक और दुख के सन्ताप से वे निश्चेष्ट नहीं होते और ना ही उनके हृदय का बोझ

१ कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतं समाः

उन्हें निष्क्रिय बनाता है। विजेताओं की तरह मस्तक उठाकर वे जीवन के सुख दुख में एक समान रहते हुए आगे बढ़ते जाते हैं; अपने रूप का साक्षात् करते हैं और अपनी सदावर्धमान आत्म ज्योति को प्रगट करते जाते हैं। उनकी आत्मा का आनन्द उनके जीवन की उस शक्ति के आनन्द के साथ चलता है जो विश्व के बनाने बिगाड़ने के सब खेल खेलती है। सूर्य के प्रकाश का आनन्द और स्वतन्त्र हवा का आनन्द उसके जीवन के आनन्द के साथ मिल कर एक ऐसे संवादी रस की रचना करते हैं जो बाह्य और आन्तरिक जगत् के अणु अणु को व्याप्त कर देता है। ऐसे सिद्ध पुरुष ही पुकार पुकार कर यह कह गये हैं कि "कर्म में प्रवृत्त रह कर ही तुम सौ वर्ष जीने की इच्छा करो।"

मनुष्य में जीवन का यह आनन्द, प्रवृत्ति का यह आनन्द सच्चा आनन्द है। इसे मिथ्या, भ्रमपूर्ण आनन्द कहना आत्मवंचना है। इस वंचना का त्याग किये बिना हम आत्मबोध के मार्ग पर नहीं चल सकते। प्रवृत्तिमय संसार का त्याग करके यदि हम असीम को जानने की कोशिश करेंगे भी तो वह प्रयास व्यर्थ जायगा।

यह सच नहीं है कि मनुष्य केवल परवशता में काम करता है। उपयोगिता की प्रेरणा अवश्य मनुष्य को कार्य में प्रवृत्त करती है किन्तु उसके साथ आनन्द की प्रेरणा भी है।

इसीलिए सभ्यता के विकास के साथ मनुष्य स्वेच्छा से अपनी प्रवृत्तियों में और अपने उपादेय कार्यों के क्षेत्र में विस्तार करता जाता है। कुछ लोग सोचते हैं कि प्रकृति के नियम भूख प्यास आदि ही मनुष्य को कार्य तत्पर रखने में पर्याप्त हैं, इनकी प्रताड़ना से ही वह कार्य में तत्पर होता है; किन्तु यह सच नहीं है। मनुष्य ने

केवल प्राकृतिक प्रेरणाओं के वश होकर, पशु पक्षियों की तरह, कार्य करने में सन्तोष नहीं माना। वह पशु-पक्षियों से भिन्न है। उसकी इच्छायें और प्रेरणायें भी भिन्न हैं। किसी भी जीव को इतना कठिन श्रम नहीं करना पड़ता--जितना मनुष्य स्वेच्छा से करता है। वह निरन्तर बनाता है, मिटाता है, नियमों की रचना करता है, उन्हें सुधारता है, उपकरणों को एकत्र करता है, हर समय नई चिन्ताओं में व्यस्त और नये मार्गों के अन्वेषण में लगा रहता है। उसकी साधना का, यन्त्रणा का कोई अन्त नहीं। इस क्षेत्र में भी उसने घोर संग्राम किये हैं, नया जीवन पाया है, मृत्यु को यशस्वी बनाया है और कष्टों से बचने के स्थान पर स्वेच्छा से नये २ कष्टों को निमन्त्रण दिया है। उसने यह निश्चय किया है कि अपनी परिस्थितियों के पिंजरे में कैद रह कर ही वह पूर्णता प्राप्त नहीं कर सकता, वह अपने वर्त्तमान की अपेक्षा महान् है और एक ही स्थल पर खड़े रहना भले ही विश्रान्तिदायक हो, जीवन के विकास को रोक देता है। यही विकास, जीवन का लक्ष्य है। इस पर प्रतिबन्ध लगाना आत्मघात करना है। विकास की प्रगति को रोकना विनाश की ओर चलना है।

इस 'महती विनिष्टि' महान् विनाश को मनुष्य ने स्वीकार नहीं किया। इसीलिए वह सदा यत्नशील रहता है, जिससे वह अपने वर्त्तमान से महान् बन सके और अप्राप्त मनोरथ को पूर्ण कर सके। इसी साधना में मनुष्य का यश है। यही जानकर उसने न केवल अपनी प्रवृत्तियों में न्यूनता नहीं की बल्कि उनके क्षेत्र को विस्तीर्ण करने में भी वह सदा तत्पर रहा है। हमारे ऋषि हमें सावधान कर गये हैं कि हमें जीने के लिए काम करना होगा और काम करने लिए जीना होगा। जीवन और कर्म का अटूट सम्बन्ध रहेगा।

स्वभाव से ही जीवन अपनी ही सीमा में पूर्ण नहीं होता; उसे

बाहिर आना पड़ता है। जीवित रहने मात्र के लिए हम बाहरी शक्तियों, प्रकाश और हवा, पर निर्भर करते हैं। अपने अन्दर की प्रयोगशाला में ही हम कितने व्यस्त रहते हैं; हृदय की गति एक क्षण के लिए भी विश्राम नहीं लेती, हमारे पाचन यन्त्र, मस्तिष्क तथा अन्य अवयवों को अविश्राम कार्य करना पड़ता है। किन्तु इतने पर ही हम सन्तोष नहीं करते। बाहरी हलचल भी हम हरदम बनाये ही रहते हैं। एक क्षण के लिए भी हमारी व्यस्तता का नृत्य समाप्त नहीं होता।

यही अवस्था हमारी आत्मा की है। वह भी केवल अपनी आन्तरिक अनुभूतियों या कल्पनाओं पर जीवित नहीं रह सकती। उसे भी बाह्य ध्येय की आवश्यकता है; अपनी चेतनता को पुष्ट करने के लिए नहीं बल्कि स्वयं को प्रवृत्त रखने के लिए। इस प्रवृत्ति का ध्येय केवल प्राप्ति ही नहीं होता, प्रदान भी होता है।

सच यह है कि हम सचाई को हिस्सों में बांट नहीं सकते। हमें उसके अन्दर-बाहर में भेद नहीं करना चाहिए। आन्तरिक जगत् हो या बाह्य जगत् - दोनों जगह हमें उसकी आज्ञा का पालन करना होगा। जहां भी हम उसके विरुद्ध चलेंगे दण्ड के भागी होंगे। 'ब्रह्म नहीं छोड़ता हम भी ब्रह्म को न छोड़ें'[1]। यह वाक्य हमारे बाह्याभ्यन्तर दोनों पर चरितार्थ होता है। यदि हम सोचें कि उसे केवल आत्म-निरीक्षण या आत्म-चिन्तन द्वारा हम प्राप्त कर लेंगे और अपनी बाह्य प्रवृत्तियों में उसका ध्यान नहीं रखेंगे; अथवा उसे हृदयस्थित प्रेम द्वारा जान लेंगे, स्तुति, उपासना आदि बाह्य उपलक्षणों की आवश्यकता नहीं, तो हम मार्ग में ही लड़खड़ा कर गिर पड़ेंगे। हमारी साधना अधूरी रह जायगी।

१—माहं ब्रह्म निराकुर्यां मा मा ब्रह्म निराकरोत्

पश्चिम के महान् देशों में देखा जाता है कि आत्मा बहिर्मुख वृत्तियों में ही अपना विस्तार ढूंढ़ती है। इसकी विशेषता विस्तृत क्षेत्रों में शक्ति संग्रह करना ही है। आन्तरिक जगत् में पूर्णता पाने की आत्मा की भूख को उपेक्षा की दृष्टि से देखा जाता है। इस पूर्णता को पश्चिम के देश मानते ही नहीं। पश्चिम का विज्ञान अभी तक संसार के विकास की चर्चा करता आया है। अब ईश्वर के विकास की चर्चा भी शुरू हो गई है। वे यह नहीं मानते कि वह पूर्ण रूप से विद्यमान है बल्कि यह मानते हैं कि उसका भी विकास हो रहा है।

वे यह बात नहीं मानते कि यद्यपि विश्व किसी भी माप या तुला-यन्त्र से तोला मापा नहीं जा सकता किन्तु वह पूर्ण भी है। ब्रह्म भी अतुलनीय होते हुए पूर्ण है। वह विकसित भी हो रहा है और पूर्ण विकास पर भी पहुंचा हुआ है, उसी तरह, जैसे, संगीत पूर्ण होते हुए भी गायन में विकसित हो रहा होता है। हम गीत सुनते हुए केवल गीत के स्वरों का उतार-चढ़ाव अनुभव करते हैं, गीत के विकास को देखते हैं, किन्तु वह गीत गायक की आत्मा में उस विकास काल में भी पूर्णतया विद्यमान होता है।

विकसित होने की प्रक्रिया को ही सत्य मानने वाले पश्चिम के लोग शक्ति-संग्रह में उन्मत्त रहते हैं। उन्होंने सब कुछ शक्ति के प्रयोग से पाने का प्रण कर लिया है। अहंकार-विमूढ़ता ने उन्हें कर्त्ता होने का अभिमान दे दिया है। उन्हें पूर्णता के सौन्दर्य से कोई प्रेम नहीं और ना ही वे प्रकृति के किसी भी कार्य को अन्तिम सत्य मानते हैं।

हमारे देश में इसके विपरीत है। हम दूसरे सिरे पर हैं। हम आन्तरिक शक्तियों को ही प्रधानता देते हैं। शक्ति-संग्रह व विस्तार

करण को हम नितान्त उपेक्षणीय समझते हैं। हम केवल चिन्तन, मनन द्वारा ब्रह्म को पाने की कल्पना करने लगते हैं। उसके बहिर्मुखु विस्तार को हम अनुभव ही नहीं करते। इसीलिए हम अपने शोधकों में आत्मिक महोन्मत्तता देखते हैं। वे नियमों के बन्धनों को भी स्वीकार नहीं करते और उनकी कल्पना बेलगाम दौड़ती है। उनकी बुद्धि ईश्वर की सृष्टि से ईश्वर को भिन्न बताने की कोशिश में सिरतोड़ कोशिश कर रही है। किन्तु अब तक उन्होंने एक भी ऐसा मापयन्त्र नहीं निकाला जिससे वे मनुष्य चरित्र के उत्थान व पतन को माप सकें।

सच्ची आध्यात्मिकता आन्तरिक व बाह्य शक्तियों के संतुलित सम्बन्ध में है। सत्य के नियम भी हैं और सत्य में आनन्द भी है। एक ओर हमारे दिव्य गीतकार कहते हैं 'भयादस्याग्निस्तपति (इसके भय से ही अग्नि जलती है,) दूसरी ओर यह भी कहते हैं कि "आनन्दाद्ध्येव खल्विमानि सर्वांनि भूतानि जायन्ते" (आनन्द से ही सब जीव जन्म लेते हैं।) ब्रह्म एक ओर अपने सत्य नियमों से बंधा है, दूसरी ओर वह अपने आनन्द में स्वतन्त्र है।

हम भी जब सत्य नियमों के बन्धनों के आगे सिर झुका देते हैं तभी हम स्वतन्त्रता का आनन्द भोग सकते हैं, जैसे सितार की तार स्वर में बंध कर ही स्वतन्त्रता का आनन्द उठाती है। जब वह पूरी कसी जाती है, जब उसके बन्ध में लचक का अंश भी शेष नहीं रहता, तभी स्वर-साधन होता है, राग के स्वर निकलते हैं, वह तार भी संगीत के स्वर को यथानुकूल प्रतिदिप्त करती हुई प्रत्येक तार की झंकार में स्वतन्त्रता प्राप्त करता है। एक ओर बन्धन में पूरी तौर पर बंधा होने के कारण ही वह संगीत की उड़ान में पूरी स्वतन्त्रता से उड़ सकता है। वह तार यदि स्वर में बंधा न होगा तो वह बन्धन भी सच्चा बन्धन नहीं होगा, उसमें से स्वर प्रतिध्वनित नहीं होगा।

बन्धन की थोड़ी सी भी ढील उस तार को, उसे संगीत में प्राप्त होने वाली स्वतन्त्रता से वंचित कर देगी। अतः यह बन्धन भी पूर्ण होना चाहिए। तभी स्वतन्त्रता में प्राप्त होने वाला आनन्द भी पूर्ण होगा।

हमारी कर्त्तव्य-तारें तभी तक बन्धन कहलाती हैं जब तक उनका स्वर सत्य के नियमों से नहीं मिलता। कर्महीनता में शिथिल हुई तारों को हम स्वतन्त्रता नहीं कह सकते। शिथिलता अकर्मण्य बनाती है, स्वतन्त्र नहीं। इसीलिए मैं कहता हूं कि सत्य व धर्म के शोध में प्रत्येक यत्न विश्वात्मा के स्वर के साथ स्वर मिलाकर ही होना चाहिए। उस यत्न की टेक यही होना चाहिए 'जो कुछ भी करो ब्रह्म के अर्पण कर दो'[1]। अर्थात् आत्मा को अपने कर्मों द्वारा आत्मार्पण करना है। यही अर्पण आत्मा का संगीत है, इसी में इसकी स्वतन्त्रता है। जब सभी कर्म ब्रह्म के साथ एकात्म होने का मार्ग बन जायं तभी आनन्द की प्राप्ति होती है। जब आत्मा बार बार अपनी कामनाओं पर नहीं लौटती, तभी पूर्णता मिलती है, स्वतन्त्रता मिलती है और यह संसार ईश्वर का राज्य बन जाता है।

वह अज्ञानी है जो यह समझता है कि परमात्मा के साथ एकात्मा एकान्त में अपनी कल्पनाओं में रमने से ही हो जायगी। मानवता एक आकाशचुम्बी मन्दिर बन रहा है, सम्पूर्ण मानव जगत आंधी-वर्षा में भी कठिन परिश्रम करते हुए उसका निर्माण कर रहे हैं। इस श्रम में भागीदार हुए बिना अकेले कोने में बैठकर ईश्वर-मिलन की आशा करना दुराशा है। इस एकान्त-चिन्तन को धर्म मानना मूर्खता है।

---

१. यद्यत्कर्म प्रकुर्वीत तद्ब्रह्मणि समर्पयेत्

आत्ममद की शराब पीकर बेहोश हुए २ हे परिव्राजक संन्यासी ! क्या तुम्हें पृथ्वी पर फैले हुए खेत-खलिहानों से मनुष्यता की बढ़ती हुई आत्मिक यात्रा के पद-चाप सुनाई नहीं देते ? इसकी विजययात्रा का जलूस सभी अवरोध-बाधाओं को पार करता हुआ बढ़ रहा है। पर्वत-शिखर भी इसके विजयघोष से फट जायेंगे और इसे स्वर्ग का मार्ग दे देंगे। सूर्य के आते ही जिस तरह कोहरा विलुप्त हो जाता है उसी तरह भौतिक वस्तुओं का आकार इसके आने से पूर्व ही अदृश्य हो जायगा। कष्ट, रोग और अव्यवस्था इसके आने से पूर्व ही पीछे हटती जारही है। अज्ञान की सब तरह की बाधायें एक ओर गिरती जारही हैं। अन्धता का अन्धकार छिन्न भिन्न होरहा है। और वह देखो ! समृद्धि, स्वास्थ्य, कविता, कला विज्ञान और सत्य का स्वरूप प्रकाश की पहली किरणों के साथ स्पष्ट होता जारहा है। इस विजययात्रा के रथ का कोई संचालक नहीं है; यह कहने का कौन साहस कर सकता है ? कौन है जो इस यात्रा में साथ न देने से इन्कार करेगा। कौन इतना मूर्ख होगा जो इस सम्मिलित जलूस से अलग होकर अपनी अकेली कन्दरा के अंधेरे में ब्रह्म का शोध करेगा ? कौन ऐसा घोर असत्य-वादी होगा जो इसे असत्य कहेगा, जो इस विजय को प्रवंचना कहेगा और जो दुनिया से दूर भागकर ईश्वर को पाने की कोशिश करेगा ? इस दुनिया से दूर-कौनसी ऐसी जगह है जहां वह ईश्वर से मिलने की आशा रखता है ?—कितनी दूर वह जा सकता है ? क्या वह उड़ेगा और उड़कर शून्य में विलीन हो जायगा ? नहीं, जो कायर उड़ना चाहता है वह कभी उसे नहीं पा सकता। हमारे अन्दर यह कहने का साहस होना चाहिए कि हम ब्रह्म का इसी स्थान पर, इसी समय अभी साक्षात्कार करेंगे। हमें यह प्रतीति होनी चाहिए कि जैसे हम अपने कर्मों द्वारा आत्मबोध कर रहे हैं उसी

तरह हम अपनी आत्मा में विश्वात्मा का अनुभव कर रहे हैं। हमें अपने प्रयत्नों से रास्ते के सब विघ्नों, कांटों, निष्कर्मण्यता, अज्ञान, अव्यवस्था को दूर करके निःसंकोच बिना संशय यह कहने का साहस होना चाहिए कि मेरे कर्मों में ही मेरा आनन्द है। और उस आनन्द में मेरे आनन्द का परमानन्द वास करता है।

उपनिषदों में 'ब्रह्मविदां वरिष्ठः' ब्रह्मज्ञानियों में श्रेष्ठतम किसे कहा है? 'आत्मक्रीडः, आत्मरतिः, आत्मवान्' जिसका आनन्द ब्रह्म में हो। जो आनन्द आनन्द के खेल से शून्य है वह आनन्द नहीं, और खेल कर्म के बिना खेल नहीं। कर्म ही आनन्द का खेल है। अतः जिसका आनन्द ब्रह्म में है वह कभी अकर्मी नहीं हो सकता। जिसका आनन्द ब्रह्म में होगा उसके कर्म भी ब्रह्मार्पित होंगे। जैसे कवि का आनन्द कविता में, कलाकार का कला में, शूरवीर का अपने शौर्य कार्य में, ज्ञानी का सत्यान्वेषण में है, उसी तरह आत्मज्ञानी का आनन्द सब छोटे बड़े दैनिक कार्यों में, सत्य में, सौन्दर्य में, व्यवस्था में ब्रह्म को प्रगट करता है।

ब्रह्म स्वयं भी इसी तरह अपने आनन्द को प्रगट करता है। अपनी बहुविध शक्तियों से, जो सब दिशाओं में प्रसारित होती हैं, ईश्वर अपनी सृष्टि के जीवों के आत्मनिहित प्रयोजनों को पूरा करता है[१]। वह आत्मनिहित प्रयोजन स्वयं ही है। और इस तरह वही अपने को बहुविध रूपों में प्रगट करता है। वह काम करता है, क्योंकि काम के बिना वह कैसे अपनी सम्पत्ति का दान करेगा! इस सदा दान देने में ही उसका आनन्द है।

इसी से हमारा और ब्रह्म का सादृश्य होता है। हमें भी

---

१. बहुधाशक्तियोगात् वर्णाननेकान् निहितार्थो दधाति।

अनेक कामों में अनेकार्थ कामों में अपने आपको भेंट कर देना होता है। वेदों में कहा है कि प्रभु आत्मदा है और बलदा भी। वह अपने आपको देकर ही सन्तुष्ट नहीं हुआ। उसने ऐसा बल भी दिया कि हम स्वयं अपने को देने में—आत्मदान करनेमें समर्थ हों। तभी उपनिषद् के ऋषि उससे प्रार्थना करते हैं कि वह हमें बुद्धि दो। हम में भी वही बुद्धि होगी तो हम भी ब्रह्म के साथ मिलकर, उससे समभाव होकर जगत के काम कर सकेंगे। तभी हम उससे सच्चे अर्थों में युक्त हो सकेंगे। परोपकारी बुद्धि वह है जो हमें दूसरों के स्वार्थ में अपना स्वार्थ मानने की कल्पना दे, जो यह बतलाये कि हमारा आनन्द मानव कल्याण के कार्यों को पूरा करने में है। जब हम इस परोपकारी बुद्धि के नेतृत्व में काम करते हैं तो हमारे काम संयत होजाते हैं, किन्तु उनमें यन्त्रवत जड़ता नहीं आती। उनकी प्रेरणा का स्रोत केवल हमारी आवश्यकताओं में या स्वार्थों में नहीं होता बल्कि आत्मपरितोष होता है। ऐसे कामों में अन्ध अनुकरण नहीं होता परम्पराओं की कायरता पूर्ण दासता नहीं होती बल्कि मौलिकता होती है। ऐसे स्वतन्त्र कार्य ही आनन्दप्रद होते हैं। इस तरह कर्मशील होने पर ही हम यह अनुभव करना शुरू करते हैं कि "वही प्रारम्भ में है और वहीं अन्त में है"[1]। इसी तरह यह भी देखते हैं कि हमारा काम ही स्वयं प्रेरणा का स्रोत है और अन्त में वह स्वयं तथा उसके सब काम शांति, कल्याण और आनन्द से प्रेरित हो जाते हैं और आनन्द से परिपूर्ण हो जाते हैं।

उपनिषद् का कथन है: "ज्ञान; शक्ति और कार्य उसके गुण हैं"।[2] यह स्वाभाविकता हमारे गुणों में नहीं है, इसीलिए हम काम और

---

१. विचैति चान्ते विश्वमादौ।

२. स्वाभाविकी ज्ञान बल क्रिया च।

आनन्द में भेद करते हैं। हमारे काम के दिन हमारे आनन्द के दिनों से भिन्न होते हैं; इसीलिए हमें सप्ताह में एक दिन आनन्द का, छुट्टी का दिन मनाना पड़ता है। हम अपने काम में आनन्द अनुभव नहीं करते, तभी ऐसा होता है। नदी को अपने प्रवाह में ही छुट्टी मिल जाती है, अग्नि को ज्वालाओं में, फूल को सुरभिप्रसार में आनन्द मिल जाता है; किन्तु हमारे दैनिक कार्यों में हमें वह आनन्द नहीं मिलता। इसका कारण यह है कि हम अपने काम में ही अपने को खो नहीं देते; उसमें आनन्दपूर्वक इतना लीन नहीं हो जाते कि वह काम ही हमारे लिए सब कुछ हो जाय।

हे आत्मदानी! हमारी आत्मा तेरी अनुभूति से ऐसी जाग उठे जैसे अग्नि में ज्वालायें जागती हैं; ऐसी प्रवाहित हो उठे जैसे नदी की लहरें बहती हैं; तेरी सुरभि का ऐसा प्रसार करे जैसे फूल करता है। हमें जीवन से प्रेम करने की समर्थता दे; ऐसा पूर्ण प्रेम, जो जीवन के सब सुखदुख, लाभ-हानि, उत्थान पतन के साथ प्रेम करे। हमें वह शक्ति दे जिसकी सहायता से हम विश्व का अनुभव कर सकें और पूरे मनोयोग से विश्व की शक्तियों के संग काम कर सकें। हमें ऐसा बल दे कि हम तेरे वरदान से प्राप्त जीवन को पूरी तरह निभा सकें, कायर न हों, बहादुरी से लेन-देन कर सकें। हमारी तुम से यही प्रार्थना है। हमारे मन से यह निर्बल भावना दूर हो जाय कि आनन्द काम से भिन्न है; वह सागर के फेन की तरह अस्पष्ट या कोहरे की तरह क्षणस्थायी है। किसान जहां भी श्रम करेगा वहीं उसका आनन्द धान की हरी कोपलें बनकर फूट पड़ेगा। मनुष्य जहां भी बीहड़ जंगलों को काटकर खेत या नगर बनायगा वहीं उसका आनन्द व्यवस्था और शान्ति बनकर प्रगट हो जायगा।

हे विश्व के कर्मकार ! हमारी प्रार्थना है कि तुम्हारी विश्व-शक्ति का अजस्र प्रवाह वसन्त की दक्षिणी हवा की तरह आये और समस्त मनुष्य जीवन के खेतों को आच्छादित कर ले। इस हवा में विविध देश के फूलों की सुवास मिली हो। यह हवा हमारी शुष्क और निर्जीव आत्माओं में अपना मधुर रस भर दे और हमारी सद्यः जाग्रत शक्तियां पूर्णता कीपुकार कर उटें !

७ : सौन्दर्य साधना

जिन वस्तुओं में हम आनन्द नहीं लेते वे या तो हमारे मन पर ऐसा बोझ होती हैं, जिनसे हम जैसे भी हो सके छुटकारा पाना चाहते हैं; अथवा उनकी क्षणिक उपयोगिता होती है जो कुछ काल बाद नष्ट होकर अन्त में केवल भारस्वरूप रह जाती है, या वह उन सदा घूमते-फिरते मुसाफिरों की तरह होती है जो हमारी परिचिति को क्षणभर छूकर अलग होजाते हैं। उनका परिचय क्षणिक और निरानन्द होता है। किसी भी वस्तु से हमारा पूरा अपनापन तभी बनता है जब वह हमारे स्थायी आनन्द का कारण बने।

इस संसार का अधिकांश ऐसा ही है जिसका होना न होना हमारे लिए बराबर है। किन्तु यह स्थिति हमें वांछनीय नहीं है। इससे हमारा अस्तित्व छोटा बनता है। सारा विश्व हमें दिया गया है और हमारी सम्पूर्ण शक्तियों की यथार्थता इसी विश्वास में है कि हम उनकी सहायता से सारे विश्व की विरासत पर अधिकार कर सकेंगे।

प्रश्न यह है कि आत्मचेतना के इस विस्तार में हमारी सौन्दर्य बुद्धि का क्या काम है? इसका कार्य क्या सचाई को प्रकाश और छाया में बांटना, सुन्दर-असुन्दर के भेद को गहरा बनाना है? यदि यही है तो हमें मानना पड़ेगा कि यह सौन्दर्य बुद्धि हमारे विश्व में असामनता का बीज बोती है और उस ऐक्यभावना के मार्ग में अवरोधक होती है जो विभिन्नता से एकता की ओर ले जाती है।

सौन्दर्य बुद्धि का यह कार्य नहीं है। परिचित-अपरिचित,

रुचिकर-अरुचिकर चीजों में गहरा भेद तभी तक रहता है जब तक हमारा ज्ञान अधूरा रहता है। मनुष्य अपने ज्ञान का क्षेत्र प्रतिदिन विस्तृत कर रहा है। विज्ञान की सहायता से हम विश्व के अधः पर्यन्त अज्ञात प्रदेशों में भी प्रवेश करते जारहे हैं। हमारी सौन्दर्य बुद्धि भी नए से नए अनुसन्धानों का अनुकरण कर रही है। सचाई सर्वत्र है, प्रत्येक वस्तु हमारे ज्ञान का विषय है। सौन्दर्य विश्व की प्रत्येक वस्तु में व्याप्त है इसलिए प्रत्येक वस्तु हमारे आनन्द का स्रोत बन सकती है।

इतिहास के प्रारम्भिक काल में मनुष्य प्रत्येक वस्तु को जीवन का चमत्कार मानता था। उसकी दृष्टि में जीवन का विज्ञान जीवित और निर्जीव के भेद से ही शुरू होता था। किन्तु अब हम जीवन विज्ञान की उस सतह पर पहुँच गये हैं जहां सजीव-निर्जीव का भेद बहुत अस्पष्ट सा रह गया है। ज्ञान के प्रारम्भिककाल में ये रेखायें हमारे ज्ञानवर्धन में सहायक थीं किन्तु अब वे रेखायें अनुपयोगी होती जाती हैं। धीरे धीरे ये रेखायें मिटती भी जारही हैं।

उपनिषदें कहती हैं, कि सभी वस्तुएं आनन्द से ही बनती और पोषित होती हैं। निर्माण के इस सिद्धान्त को समझने में पहले पहल सुन्दर-असुन्दर का भेद सहायक होता है। परस्पर विरोधी रंगों का भेद ही हमें सुन्दर लगता है। सौन्दर्य की पृथक अनुभूति गहरे रंगों से होती है। चित्र-विचित्र रंगों की चमक दमक, जुदा-जुदा रंगों के पंखों की झलक हमारे मन को मोह लेती है। किन्तु इन रंगों से परिचय बढ़ने के साथ यह विभिन्नता नष्ट होती जाती है और उन रंगों की परस्पर अनुकूलता, एकरसता हमारे सौन्दर्य-प्रिय मन को अच्छी लगने लगती है। पहले हम सुन्दर वस्तु को उसकी परिस्थितियों से अलग देखते हैं किंतु अंत में हम उसे उसकी

परिस्थितियों में ही मिला-जुला देखने का अभ्यास डालते हैं। तब सौन्दर्य के संगीत को हमें मुग्ध करने के लिये ऊँचे स्वर में आलाप करने की आवश्यकता नहीं रहती। तब वह वस्तु अपनी तीव्रता छोड़ देती है और अपने गहरे व्यक्तित्व में छिपे रहस्यमय सत्य से ही हमारे मन को मुग्ध करती है।

हमारे विकास के इतिहास में एक समय ऐसा भी आता है जब हम सौन्दर्य की विशेष परिभाषा करके उसे सम्प्रदाय विशेष की चीज बनादेते हैं। तब एक खास सांचे में ढली चीज को ही हम सौन्दर्य कहते हैं और उस विशिष्ट सौन्दर्य का स्वामित्व भी कुछ इने गिने लोगों के ही अहंकार की वस्तु रह जाता है। उस समय सौन्दर्य के साथ अनेक प्रकार के अतिशयदोष या मिथ्या भावनायें जुड़ जाती हैं। हमारे इतिहास के पतनकाल--ब्राह्मणकाल--में ऐसा ही हुआ था। यही वह समय था जब सचाई का स्थान रूढ़ियों ने लेलिया था।

सौन्दर्य कला के इतिहास में एक समय वह भी आता है जब सौन्दर्य का मान असाधारण चीजों की अपनी विशेषताओं से नहीं बल्कि सामान्य वस्तुओं की प्रशान्त समतामय स्थिति से होने लगता है। सामान्यता का यह रोग इतना बढ़ जाता है कि हम सौन्दर्य की परीक्षा करते हुए सामान्यता या सादगी को ही कसौटी मान बैठते हैं। और इस समान्यता को उस सतह पर लेजाते हैं जहां वह प्रत्यक्ष रूप से कुरूपता में असामान्य दिखाई देने लगे। समता को लक्ष्य बनाकर हम विषमता को जन्म देते हैं। प्रत्येक प्रगतिविरोधी कार्य में ऐसा ही होता है। इस युग में सौन्दर्य की प्रतिगामी प्रवृत्तियां सिर उठा रही हैं; जिससे मालूम होता है कि दृष्टि की संकीर्णता सौन्दर्य प्रतीति को कुरूप और सुरूप दो टुकड़ों में बांट देती है। मनुष्य जब

स्वार्थ या भोगेच्छा की प्रवृत्तियों से सर्वथा वीतरागी सर्वथा निरपेक्ष होकर वस्तुओं को देखता है तभी वह सौन्दर्य का सच्चा रूप देख सकता है। यह सौन्दर्य सर्वत्र है। तभी वह अनुभव कर सकता है कि हमें अरुचिकर प्रतीत होने वाली सब वस्तुएं आवश्यक तौर पर असुन्दर नहीं होतीं, उनका सौन्दर्य उनकी सचाई पर निर्भर होता है।

जब हम यह कहते हैं कि सौन्दर्य सर्वत्र वास करता है तो हमारा यही अभिप्राय नहीं होता कि शब्दकोष से असुन्दर शब्द का बहिष्कार कर दिया जाय। यह बात उसी तरह निःसार है जिस तरह यह कहना कि दुनिया में असत्य है ही नहीं। वस्तुतः असत्य विश्व के अस्तित्व में नहीं बल्कि हमारी दृष्टि में ही होता है। इसी तरह कुरूपता जीवन के सौन्दर्य को विकृत रूप में देखने की प्रवृत्ति में या सत्य को अधूरा जानने के कारण हमारी दोषपूर्ण कला कृतियों में होती है। हम कुछ अंशों में व्यापक सत्य नियमों के प्रतिकूल अपनी जीवन व्यवस्था बनालेते हैं और विश्व में व्याप्त एकरसता के विपरीत जाकर कुरूपता को जन्म देने का कारण बन जाते हैं।

सत्य के बोध द्वारा हम प्राकृतिक नियमों को जान पाते हैं और सौन्दर्य के बोध से हमें विश्व की समता का ज्ञान होता है। प्रकृतिगत नियमों का ज्ञान हमें प्राकृतिक शक्तियों पर अधिकार पाने की क्षमता देता है, हम समर्थ होते हैं; एवं स्वगत नियमों का ज्ञान हमें आत्मिक शक्तियों पर अधिकार देता है और हम स्वतन्त्र होते हैं। इसी तरह सौन्दर्य का बोध भी हमें विश्व की विभूतियों में आनन्द की प्रतीति देकर हमारी कला को अधिक सुन्दर व सम्पन्न